वक्तव्य

संस्कृत-साहित्य में सहस्रों वर्षों तक काव्याङ्गों पर गहन मनन-चिन्तन और विचार-विमर्श निर्बाध गति से चलता रहा। सत्रहवीं शताब्दी तक इसका क्रम अटूट रहा है। भारत में विभिन्न कालों में राजनीतिक, धार्मिक और सामाजिक विप्लव एवं क्रान्तियों की आँधी में पड़ कर संस्कृत की प्रभूत साहित्य-राशि अन्धकार के गह्वर में जा छिपी, जिसका पता लगाना भी दुःसाध्य हो रहा है। आज विभिन्न प्रान्तों के संस्कृत के विद्वान् वाङ्मय के विविध क्षेत्रों में बड़े मनोयोग से शोध कार्य कर रहे हैं, जिसके परिणाम-स्वरूप नए-नए तथ्य प्रकाश में आ रहे हैं। मराठी, बँगला, गुजराती, हिन्दी आदि भाषाओं में यह कार्य प्रगति पर है। विभिन्न प्रादेशिक भाषाओं के साहित्य ने काव्याङ्ग-विचार को संस्कृत से ही पैतृक सम्पत्ति के रूप में ग्रहण किया; किन्तु विचार की जो गहनता और सूक्ष्मता प्राचीनों में मिलती है उसका आधुनिकों में अभाव पाया जाता है। अधिकांश अधुनातन साहित्यिक तो उसकी गम्भीरता की ओर झाँकते भी घबराते हैं और इसलिए साहित्य-समीक्षण के लिए, पश्चिम के सरल अथच उथले मार्ग का ही अवलम्बन करके उसी की प्रशंसा भी करते हैं। किन्तु विद्यालयों, महाविद्यालयों और विश्वविद्यालयों के पाठ्य-क्रम में प्राच्य काव्याङ्ग-विवेचन का परिचय अनिवार्य कर देने के कारण संस्कृत रुचि के शिक्षार्थी आगे चलकर इसकी वरेण्यता का महत्त्व समझते हैं और समझेंगे। इसी दृष्टि से यह पुस्तक उपस्थित की गई है।

प्रस्तुत संस्करण में काव्याङ्गों पर कुछ विस्तारपूर्वक विचार किया गया है। काव्य, ध्वनि, रस, अलङ्कारों आदि के ऐतिहासिक विकास-क्रम का परिचय भी संक्षिप्त रूप में दे दिया गया है। कतिपय शब्दालङ्कारों और अर्थालङ्कारों को बढ़ा दिया गया है और कुछ का स्वरूप-विस्तार भी हो गया है। अब इसमें रीतियों और गुणों को भी स्थान मिल गया है, जो पहले के संस्करणों में नहीं थे। इस प्रकार यह संस्करण सर्वथा नूतन रूप में सामने आ रहा है और इसका कलेवर भी पहले से द्विगुणित हो गया है। आशा है, साहित्य के जिज्ञासु विद्यार्थियों एवं परीक्षार्थियों का इससे परितोष होगा।

ज्येष्ठ कृ० ११, २०१८

वाराणसी।

विद्वद्वशंवद—

लालधर त्रिपाठी 'प्रवासी'

विषयानुक्रम

विषय			पृष्ठ-संख्या
१—विषय-प्रवेश	...	...	१–१४
काव्य	...	...	१
विभिन्न आचार्यों के काव्य लक्षण		...	२
राजशेखर के मत की विशेषता		...	६
काव्य के प्रकार (शैलीगत)		...	६
काव्य के स्वरूपगत भेद	...	...	११

(दृश्यकाव्य, श्रव्य काव्य और गद्य काव्य के भेद)

अङ्क १

ध्वनि			१५–२१

ध्वनि का इतिहास (ध्वनि के उद्भव का मूल स्थान, वैयाकरणों का स्फोटवाद; अभाववादी-भाक्त-अलक्षणीयत्ववादियों के मत; आनन्दवर्धन, अभिनव गुप्त और मम्मट के मत)

ध्वनि (शब्दशक्तियाँ)	...	...	२१
मुख्यार्थ या अभिधाशक्ति	...	...	२२
लक्षणाशक्ति	...	...	२२
व्यञ्जनाशक्ति	...	...	३०

अङ्क २

रस (ऐतिहासिक विकास)		...	३३–४३

(रस के विचारक—भट्ट लोल्लट का मत, भट्ट शंकुक का मत, भट्टनायक का भुक्तिवाद, अभिनवगुप्त का व्यक्तिवाद; स्थायी

भाव; स्थायी भाव और मनोविज्ञान; विभाव, अनुभाव और व्यभिचारी भाव)

रसों का विवरण ४३–६७

रसों की संख्या; शृङ्गार रस–संयोग शृङ्गार और विप्रलम्भ शृङ्गार–विप्रलम्भ के भेदः

(१) पूर्वराग—काम दशाएँ, (२) मान, (३) प्रवास और (४) करुण ।

करुण रस ५५
हास्य रस ५५
रौद्र रस ५६
वीर रस ५७
भयानक रस ५८
बीभत्स रस ५९
अद्भुत रस ६०
शान्त रस ६०
वात्सल्य रस ६१
रसों में रसराज कौन-सा रस है ? ... ६२
रस-दोष ६६
प्रमुख रस और उनके सहायक ... ६७

अङ्क ३

गुण ६८–७०
(माधुर्य, ओज और प्रसाद)

अङ्क ४

रीति ७१–७५
(वैदर्भी, गौड़ी, पाञ्चाली और लाटी)

अङ्क ५

अलङ्कार ७६

ऐतिहासिक विकास ७६–८७

ऋग्वेद, निरुक्त, नाट्यशास्त्र, भट्टतौत, पाणिनि, चरक, भामह, वामन, भट्टोद्भट, रुद्रट, मम्मट भट्ट, जयदेव, राजानक रुय्यक और अप्पय दीक्षित)

अलङ्कार-परिचय

शब्दालङ्कार ८८

अनुप्रास ८६

यमक ६३

पुनरुक्तवदाभास ६५

पुनरुक्तिप्रकाश ६६

वीप्सा ६६

वक्रोक्ति ६७

श्लेष ६८

अर्थालङ्कार

उपमा १००

मालोपमा १०१

रशनोपमा १०३

अनन्वय १०३

उपमेयोपमा	...	...	१०४
प्रतीप	...	...	१०५
रूपक	...	...	१०७
उल्लेख	...	...	१०८
स्मरण	...	...	१०९
भ्रान्तिमान् या भ्रम	...	...	११०
सन्देह	...	...	११०
अपह्नुति	...	...	११३
उत्प्रेक्षा	...	...	११५
अतिशयोक्ति	...	...	११७
प्रतिवस्तूपमा	...	...	१२०
दृष्टान्त	...	...	१२०
निदर्शना	...	...	१२१
व्यतिरेक	...	...	१२२
सहोक्ति	...	...	१२३
परिकर	...	...	१२३
परिकराङ्कुर	...	...	१२४
अन्योक्ति	...	...	१२५
तुल्ययोगिता	...	...	१२६
दीपक	...	...	१२७
कारकदीपक	...	...	१२८

आवृत्ति दीपक	...	...	१२८
मालादीपक	...	...	१३०
यथासंख्य	...	...	१३०
विभावना	...	...	१३१
विरोधाभास या विरोध	...	...	१३४
विशेषोक्ति	...	...	१३८
काव्यलिंग	...	...	१३९
स्वभावोक्ति	...	...	१४०
समासोक्ति	...	...	१४१
असङ्गति	...	...	१४२
अर्थान्तरन्यास	...	...	१४५
परिसंख्या	...	...	१४५
उभयालंकार	...	...	१४६
संसृष्टि	...	...	,,
सङ्कर	...	...	,,
अङ्क ६			
पिंगल या छन्दःशास्त्र	...	...	१४७
छन्द	...	...	१४७
ज्ञातव्य बातें	...	...	१४८
गण-विचार	...	...	१४९
मात्रिक छन्द की विशेषताएँ	...	...	१५०

यति	...	...	१५१
गति	...	...	१५२
शुभाशुभ वर्ण और दग्धाक्षर		...	१५३
दोष-परिहार	...	...	१५४
गण-फलक	...	...	१५५
तुक-विचार	...	...	१५७
छन्दोवंश-वृत्त	...	...	१६०
मात्रिक समछन्द			
तोमर	...	...	१६१
लीला	...	...	१६१
हंसी या चौबोला	...	...	१६१
चौपई	...	...	१६२
अरिल्ल	...	...	१६२
चौपाई	...	...	१६३
प्लवङ्गम	...	...	१६३
रोला	...	...	१६४
गीतिका	...	...	१६४
हरिगीतिका	...	...	१६५
चौपैया	...	...	१६५
वीर या आल्हा छन्द	...	...	१६६

मराल १६७
रूप सवैया १६७
मत्त सवैया १६८

मात्रिक अर्द्ध सम छन्द

बरवै १६८
दोहा १६६
सोरठा १७०
उल्लाला १७०

मात्रिक विषम छन्द

कुण्डलिया १७०
छप्पय १७१
आधुनिक गीत १७२
मुक्त छन्द १७२

वर्णिक वृत्त

शालिनी १७३
भुजङ्गी १७४
इन्द्रवज्रा १७४
उपेन्द्रवज्रा १७४
तोटक १७५
भुजङ्गप्रयात १७५
इन्द्रवंशा १७६
वंशस्थ १७६
द्रुतविलम्बित १७६
मालती १७७
वसन्ततिलका १७७

मलिनी १७८
मन्दाक्रान्ता १७८
शिखरिणी १७९
शार्दूलविक्रीडित १७९

सवैया छन्द

मदिरा या चकोर १८०
मत्तगयन्द १८०
अरसात १८०
किरीट १८१
दुर्मिल १८१
सुन्दरी १८१

मुक्तक दण्डक छन्द

मनहरण कवित्त १८२
रूप घनाक्षरी १८२
देव घनाक्षरी १८३

विषय–प्रवेश

सान्द्र जिसके अंचल के तले
लोक-आतप का नहीं प्रवेश,
सुधा बरसाता है मुख-चन्द्र
नहीं अज्ञान-तमी का क्लेश।
नयन की वाणी जिसकी बाँच
पहुँचता सेवा में आनन्द,
चाहता उस जननी के मृदुल
चरण-कमलों का शुचि मकरन्द।

काव्य

अलौकिक आनन्द-प्रदायिनी पदावली का नाम काव्य है। लौकिक आनन्द वैयक्तिकता की परिधि से घिरा रहता है। मैं तथा मेरा के आगे लौकिक आनन्द की गति नहीं है। काव्यानन्द के क्षेत्र में मैं-तुम तथा मेरा-तुम्हारा का घेरा टूट जाता है। आत्मा समस्त विश्व-ब्रह्माण्ड को आत्मसात् कर लेती है। काव्य-लोक में पहुँच कर सहृदय 'अहं ब्रह्मास्मि' की स्थिति में आ जाता है। 'पर' की सत्ता मिट जाती है और 'स्व' ही समग्र विश्व को अपने में समेट लेता है। इसी स्थिति को साधारणीकरण की स्थिति कहते हैं। जो व्यक्ति या वस्तु वर्ण्य-विषय होती है, वह भावक के साथ अभेद-सम्बन्ध स्थापित कर लेती है। इसलिए उसका सुख-दुःख भावक का सुख-दुःख हो जाता है, उसकी स्थिति से भावक की स्थिति पृथक् नहीं रह जाती, यद्यपि लौकिक दृष्टि से भावक से उसका किसी प्रकार का

सम्बन्ध नहीं होता। इसीलिए काव्यानन्द को 'ब्रह्मानन्द-सहोदर' कहा गया है। काव्य-लोक में पहुँच कर भावक की सङ्कीर्णता समाप्त हो जाती है, उसका व्यक्तित्व सर्वभूतमय एवं सर्वविश्व-मय हो जाता है। इसी स्थिति का नाम साहित्य में 'रस-दशा' है।

विभिन्न आचार्यों के काव्य-लक्षण

१—भरत मुनि के पश्चाद्वर्ती आचार्यों में सब के पूर्ववर्ती आचार्य भामह कहते हैं, 'शब्द और अर्थ का सहभाव ही काव्य है। वह गद्यबद्ध और पद्यबद्ध दोनों ही होता है।'[1]

अर्थात् कवि के मनोगत अर्थ की अभिव्यक्ति में समर्थ शब्द ही काव्य है।

२—उनके पश्चाद्वर्ती महाकवि दण्डी काव्य का लक्षण इस प्रकार देते हैं—

'शब्द और अर्थ दोनों के सहयोग से काव्य का शरीर व्युत्पन्न होता है।'[2]

विमर्श—इन दोनों आचार्यों ने काव्य के शरीर का ही परिचय दिया है, उसकी आत्मा को निरखने-परखने का यत्न नहीं किया। इस दृष्टि से आचार्य वामन इनसे एक डग आगे बढ़े दिखाई पड़ते हैं। उन्होंने काव्य के अन्तःस्वरूप को पहचानने का प्रयास किया है।

३—आचार्य वामन का मत है—

'काव्य की आत्मा रीति है। अलंकार से भूषित होकर काव्य ग्राह्य होता है। अलंकार का अर्थ है सौन्दर्य।'[3]

१—शब्दार्थौ सहितौ काव्यं गद्यम्पद्यञ्च तद्द्विधा।—काव्यालंकार, १।१६॥

२—शरीरं तावदिष्टार्थव्यवच्छिन्ना पदावली।—काव्यादर्श, १।

३—रीतिरात्मा काव्यस्य। काव्यं ग्राह्यमलङ्कारात्। सौन्दर्यमलङ्कारः।
—काव्यालंकार-सूत्र १।१,२,३॥

४—आचार्य आनन्दवर्धन सर्वथा मौलिक मत प्रकट करते हुए कहते हैं—

'पहले से ही विद्वज्जनों ने ध्वनि को काव्य की आत्मा माना है। कुछ लोग ध्वनि का अभाव मानते हैं, तो कुछ लोग उसे भाक्त या लक्षणागम्य कहते हैं और कुछ तो उसे वाणी का अविषय कह कर टाल ही जाते हैं। मैं सहृदयों के मनःप्रसादन के लिए इन सबका निराकरण करके ध्वनि के यथार्थ स्वरूप को प्रकट करूँगा।'[१]

५—साहित्य के विश्वकोशकार आचार्य राजशेखर सरस्वती के मुख से काव्य का परिचय इस प्रकार प्रस्तुत करते हैं—

'शब्द और अर्थ तेरे शरीर हैं। संस्कृत भाषा मुख है। प्राकृत भाषाएँ तेरी भुजाएँ हैं। अपभ्रंश भाषा जघन-प्रदेश है। पैशाची भाषाएँ तेरे चरण हैं। मिश्र भाषा तेरा वक्षःस्थल है। तू सम, प्रसन्न, मधुर, उदार और ओजस्वी है। तेरी वाणी बड़ी उत्तम है। रस तेरी आत्मा है। छन्द तेरे रोम हैं। प्रश्नोत्तर, पहेली आदि तेरी वाक्केलि है। अनुप्रास, उपमा आदि तेरे आभूषण हैं। भावी अर्थों का ज्ञान करानेवाली श्रुति भी तेरी स्तुति करती है।'[२]

१—काव्यस्यात्मा ध्वनिरिति बुधैर्यः समाम्नातपूर्व-
स्तस्याभावं जगदुरपरे भाक्तमाहुस्तमन्ये।
केचिद्वाचां स्थितमविषये तत्त्वमूचुस्तदीयं
तेन ब्रूमः सहृदयमनःप्रीतये तत्स्वरूपम्॥ ध्वन्यालोक, १।१

२—शब्दार्थौ ते शरीरं संस्कृतं मुखं प्राकृतं बाहुर्जघनमपभ्रंशः। पैशाचं पादावुरो मिश्रम्। समः प्रसन्नो मधुर उदार ओजस्वी चासि। उक्तिचणश्च ते वचो रस आत्मा रोमाणि छन्दांसि प्रश्नोत्तरप्रवह्लिकादिकश्च वाक्केलिः। अनुप्रासोपमादयश्च त्वामलङ्कुर्वन्ति। भविष्यतोऽर्थस्याभिधात्री श्रुतिरपि भवन्तमभिस्तौति।—काव्यमीमांसा, अध्याय ३

कहने की आवश्यकता नहीं कि राजशेखर ने समग्र साहित्य-शास्त्र के विवेच्य विषयों को लेकर काव्य के पूरे स्वरूप का संघटन कर दिया है। काव्य का ऐसा पूर्ण परिचय अन्य किसी आचार्य ने प्रस्तुत नहीं किया।

राजशेखर के लक्षण की विशेषता

ध्वनिकार ने काव्य की आत्मा के विषय में नई जानकारी दी थी और उसे ध्वनि कहा था। ध्वनि तीन प्रकार की होती है, (१) वस्तु-ध्वनि, (२) अलङ्कार-ध्वनि और (३) रस-ध्वनि। ध्वनि को काव्य की आत्मा मानने से, जहाँ केवल वस्तु-ध्वनि या अलङ्कार-ध्वनि होगी, उसे भी काव्य मानना पड़ेगा, चाहे वहाँ रस हो या न हो। राजशेखर ध्वनिकार के मत का परिष्कार करते हुए यहाँ एक वार्तिक-सा जोड़ देते हैं कि 'रस-ध्वनि ही काव्य की आत्मा है।' यही इनके मत का वैशिष्ट्य है।

६—आचार्य कुन्तक की प्रतिभा अपने क्षेत्र में अद्भुत है। वे मौलिक चिन्तक हैं, इसीलिए अपने पूर्ववर्ती आचार्यों के मतों का सार मधुकरी वृत्ति से लेकर एक नूतन काव्य-लक्षण प्रस्तुत करते हैं। उनका वक्तव्य है—

'काव्य शब्द और अर्थ का वह सहभाव है, जिसमें वक्र कवि-व्यापार (ध्वनि) तथा सहृदय के लिए आह्लादकारी पद-बन्ध (रीति) की व्यवस्था हो। सहित या सहभाव का तात्पर्य यह कि शब्द और अर्थ इन दोनों में मनोहारिता का न्यूनाधिक्य न हो। शब्द में भी वही चुस्ती और मनोहारिता हो जो अर्थ में हो।'[1]

१—शब्दार्थौ सहितौ वक्रकविव्यापारशालिनि।
बन्धे व्यवस्थितौ काव्यं तद्विदाह्लादकारिणि ॥—वक्रोक्तिजीवित, १।७॥
शब्दार्थौ सहितावेव प्रतीतौ स्फुरतः सदा।

कुन्तक के मत का वैशिष्ट्य—शब्द और अर्थ दोनों के सौन्दर्य पर समान बल देकर कुन्तक ने विशेष जागरूकता का परिचय दिया है। इस प्रकार भामह आदि प्राचीन आचार्यों द्वारा प्रयुक्त 'सहित' शब्द की पूरी व्याख्या हो गई, जो अब तक अछूती ही रही।

७—आचार्य क्षेमेन्द्र साहित्य, दर्शन आदि शास्त्रों के प्रकाण्ड विद्वान् और आचार्य अभिनव गुप्त के शिष्य थे। इन्होंने औचित्य नामक नए सिद्धान्त की प्रतिष्ठा की। औचित्य की विवेचना इन्होंने 'औचित्य-विचार-चर्चा' तथा 'सुवृत्त-तिलक' नामक ग्रन्थों में की है। तदनुसार औचित्य को ही इन्होंने काव्य की आत्मा माना है। इनका दृढ़ मत है कि यदि काव्य में औचित्य न हो तो गुण और अलंकार सब व्यर्थ हैं; क्योंकि औचित्य रूप आत्मा के विना काव्य होगा ही नहीं, और चाहे जो हो।[1]

८—वाग्देवावतार मम्मट की उक्ति है कि निर्दोष, गुणमय, प्रायः अलङ्कार-संवलित (कभी-कभी अलङ्कार-रहित भी) शब्दार्थ ही काव्य है।[2] इन्होंने अलङ्कारवादियों का खण्डन बड़े साहस

साहितावितिं तावेव किमपूर्वं विधीयते ॥
साहित्यमनयोः शोभाशालितां प्रति काप्यसौ।
अन्यूनानतिरिक्तत्वमनोहारिण्यवस्थितिः ॥—वही, १।१६, १७ ॥

१—काव्यस्यात्मलङ्कारैः किं मिथ्या गणितैः गुणैः।
यस्य जीवितमौचित्यं विचिन्त्यापि न दृश्यते ॥
अलङ्कारास्त्वलङ्कारा गुणा एव गुणाः सदा।
औचित्यं रससिद्धस्य स्थिरं काव्यस्य जीवितम् ॥—आचित्यविचार-चर्चा, ४।५॥

२—तददोषौ शब्दार्थौ सगुणावनलङ्कृतौ पुनः क्वापि।—काव्यप्रकाश, १।४।१ ॥

के साथ किया। इससे अलङ्कारवादी इनके ऊपर बौखला भी उठे थे।

९—पण्डितराज जगन्नाथ ने आचार्य मम्मट के काव्य-लक्षण में प्रयुक्त 'शब्दार्थ' काव्य-विशेषण का खण्डन किया और कहा कि अर्थ तो काव्य होता नहीं, अतः 'अर्थ' शब्द का प्रयोग भ्रान्तिपूर्ण है। इनका अभिमत यह है कि रमणीय अर्थ का प्रतिपादक शब्द ही काव्य है।[1]

१०—विश्वनाथ महापात्र ने रसात्मक वाक्य को काव्य माना है।[2]

काव्य के प्रकार

काव्य के तीन भेद होते हैं—(१) उत्तम, (२) मध्यम और अधम। इस मत को प्रायः सभी आचार्य मानते हैं। केवल पण्डितराज जगन्नाथ ने तीन के स्थान पर चार भेद किए हैं, (१) उत्तमोत्तम, (२) उत्तम, (३) मध्यम और (४) अधम। यद्यपि अपनी मान्यता को उन्होंने बड़े सयुक्तिक ढंग से स्थापित किया है, तथापि औरों को वह मान्य नहीं हुई।

१—उत्तम काव्य—जिस काव्य में वाच्यार्थ से व्यंग्यार्थ अधिक चमत्कारपूर्ण होता है, उसे उत्तम काव्य या ध्वनि-काव्य कहते हैं।[3]

१—रमणीयार्थप्रतिपादकः शब्दः काव्यम्।—रसगंगाधर, १॥

२—वाक्यं रसात्मकं काव्यम्।—साहित्यदर्पण, १।३॥

३—इदमुत्तममतिशायिनि व्यङ्ग्ये वाच्याद्ध्वनिर्बुधैः कथितः।—काव्य-प्रकाश, १।४॥

ध्वनिकार ने ध्वनि के तीन प्रकार बतलाए हैं, (१) वस्तु-ध्वनि, (२) अलङ्कारध्वनि और (३) रसध्वनि। इनमें से जहाँ केवल वस्तु-ध्वनि या केवल अलङ्कार-ध्वनि होगी वहाँ काव्यत्व की प्रतिष्ठा नहीं हो सकती, उसके लिए तो रसध्वनि का होना अपरिहार्य है। रसबन्धाभिनिवेशी कवि ही उत्तम कवि होता है। इसीलिए ध्वनिकार ने रससिद्ध मुक्तककार अमरुक आदि को मुक्तकण्ठ प्रशंसा की है।[1] कथाश्रित प्रबन्धकाव्य में स्वेच्छा का प्रयोग रस-विरोधी हो जाता है, अतः ऐसी स्वेच्छाचारिता सर्वथा वर्ज्य है। हाँ, रसोचित कल्पना का उपयोग शोभाधायक ही कहा जायगा। कवि का कार्य है कथा को रसमयी बनाना, कोरे इतिवृत्त का कथन तो व्यर्थ है, क्योंकि वह काम तो इतिहास ही कर देता है।[2] अतः यह सिद्ध हुआ कि व्यंग्यार्थ की प्रमुखता रखनेवाला रसमय काव्य ही उत्तम काव्य है।

इस उत्तम काव्य के दो भेद हैं, (१) अविवक्षित वाच्य (लक्षणामूलक) और (२) विवक्षितान्यपरवाच्य (अभिधा-मूलक)। लक्षणामूलक अविवक्षित वाच्य के फिर दो प्रकार हो

१—तत्र मुक्तकेषु रसबन्धाभिनिवेशिनः कवेस्तदाश्रयमौचित्यम्।...अन्यत्र कामचारः। मुक्तकेषु प्रबन्धेष्विव रसबन्धाभिनिवेशिनः कवयो दृश्यन्ते। यथा ह्यमरुकस्य कवेर्मुक्तकाः शृंगाररसस्यन्दिनः प्रबन्धायमानाः प्रसिद्धा एव।—ध्वन्यालोक, ३।७॥

२—कविना काव्यमुपनिबध्नता सर्वात्मना रसपरतन्त्रेण भवितव्यम्। तत्रेतिवृत्ते यदि रसाननुगुणां स्थितिं पश्येत्तदेमां भङ्क्त्वापि स्वतन्त्रतया रसानुगुणं कथान्तरमुत्पादयेत्। न हि कवेरितिवृत्तमात्रनिर्वहणेन किञ्चित्प्रयोजनमितिहासादेव तत्सिद्धेः।—ध्वन्यालोक, ३।१४॥

जाते हैं : (१) अर्थान्तर-सङ्क्रमित और (२) अत्यन्ततिरस्कृत।[१] इसी प्रकार अभिधामूलक विवक्षितान्यपर-वाच्य के भी दो भेद : (१) संलक्ष्यक्रम और (२) असंलक्ष्यक्रम, हो जाते हैं।[२] अभिधामूलक असंलक्ष्य-क्रम ध्वनि ही रसध्वनि कहलाती है।[३]

उदाहरण

मानव के नन्हें जीवन में
जीना भी अभिशाप हो गया!
जीवन भर चलते ही जाना
छायामय विश्राम नहीं है,
एक वाक्य में पुस्तक सारी
जिसमें कहीं विराम नहीं है;
हँसने की तो बात न पूछो,
रोना भी तो पाप हो गया!
ऊभ-चूभ-सी देख तिमिर में
लघु प्रकाश की झिलमिल छाया,
हाथ बढ़ाते गए, किन्तु
फिर भी तो कुछ भी हाथ न आया;

१—अर्थान्तरे संक्रमितमत्यन्तं वा तिरस्कृतम्।
अविवक्षितवाच्यस्य ध्वनेर्वाच्यं द्विधा मतम्॥—ध्वन्यालोक, २।१॥

२—असंलक्ष्यक्रमोद्योतः क्रमेण द्योतितः परः।
विवक्षिताभिधेयस्य ध्वनेरात्मा द्विधा मतः॥—वही। २।२॥

३—रसभावतदाभासतत्प्रशान्त्यादिरक्रमः।
ध्वनेरात्माङ्गिभावेन भासमानो व्यवस्थितः॥—वही २।३॥

जगती की इस मृगतृष्णा में
हँसना महा-विलाप हो गया!
जल के एक बिन्दु-सा जीवन
चला जगत् की प्यास बुझाने,
अपनी लघु सीमा में चंचल
होकर चला असीम थहाने;
जग के तप्त तवे पर पड़ कर
जल-कण क्षण में भाप हो गया!
मानव के नन्हें जीवन में
जीना भी अभिशाप हो गया॥

—स्वरचित गीत

इस गीत के प्रथम चरण में प्रयुक्त 'नन्हें' शब्द से जीवन की क्षणिकता, 'अभिशाप' से निःसारता और 'पाप' शब्द से कर्त्तव्य कर्म करने की असमर्थता व्यंग्य है। अर्थात् मानव-जीवन के विकास-पथ के अवरोधक तत्त्वों के उच्छेद की सामर्थ्य का अभाव ही रोदन का मुख्य कारण है। यहाँ व्यंग्य अर्थ वाच्य से विशेष चमत्कारक होने के कारण यह गीत ध्वनि काव्य या उत्तम काव्य सिद्ध हुआ। इसी प्रकार आगे भी समझना चाहिए।

मध्यम काव्य—जहाँ व्यंग्यार्थ वाच्यार्थ से बढ़ कर चमत्कारपूर्ण न हो, अपितु गौण सिद्ध हो, वहाँ मध्यम काव्य होता है।[1]

१—अतादृशि गुणीभूतव्यङ्ग्यं व्यङ्ग्ये तु मध्यमम्।

—काव्यप्रकाश, १। सू० ३॥

उदाहरण

तुम दुख बन इस पथ में आना।
शूलों में नित मृदु पाटल-सा
खिलने देना मेरा जीवन;
क्या हार बनेगा वह जिसने
सीखा न हृदय का बिंधवाना!

—महादेवी (नीरजा)

व्यंग्य अर्थ यह है कि जो साधना के कष्ट उठाता है उसे उत्कर्ष-प्रदायिनी सिद्धि प्राप्त होती है। किन्तु वाच्यार्थ इस व्यंग्यार्थ से बढ़ कर चमत्कारपूर्ण है। अतः यह मध्यम काव्य का उदाहरण हुआ।

३—अधम काव्य—जहाँ व्यंग्यार्थ के लिए कोई अवकाश न हो, केवल शब्द-चित्र और अर्थ-चित्र की ही प्रधानता हो, वहाँ अधम काव्य होता है।[1]

उदाहरण

निर्बल बकरों से बाघ लड़े
भिड़ गए सिंह मृग-छौनों से।
घोड़े गिर गए, गिरे हाथी
पैदल बिछ गए बिछौनों से॥

—हल्दीघाटी

यह 'लड़े', भिड़ गये' और 'बिछ गए' में केवल शब्द-चित्र ही हैं, व्यंग्य का कहीं पता नहीं। बकरों से बाघों का 'लड़ना' और

१—शब्दचित्रं वाच्यचित्रमव्यङ्ग्यं त्ववरं स्मृतम्॥—वही

मृग-छौनों से सिंहों का 'भिड़ना' कह कर कवि ने काव्य को हास्यास्पद बना दिया है।

विमर्श—चित्रकाव्य की गणना भी, जिसमें कमल-बन्ध, धनुष-बन्ध, धेनु-बन्ध आदि प्रस्तुत किए जाते हैं, इसी अवर काव्य के ही अन्तर्गत होती है। सन्तोष की बात है कि अब वह कविता के साथ चलने वाला बौद्धिक व्यायाम समाप्त हो गया।

काव्य के स्वरूपगत भेद

स्वरूप के अनुसार काव्य के दो भेद होते हैं, (१) दृश्य-काव्य और (२) श्रव्य काव्य।

१—दृश्य काव्य—काव्य का वह प्रकार जो अभिनय के लिए रङ्गमंच पर उपस्थित किया जाता है और जिसका रसास्वादन दर्शक आँखों के माध्यम से करते हैं, उसे दृश्य काव्य कहते हैं। इसमें अभिनेता काव्य के नायक, नायिका आदि पात्रों का रूप बना कर उनके कार्यों का अनुकरण करते हैं, इसलिए इसका नाम 'रूपक' भी है।

अभिनय के प्रकार

इसका अभिनय चार प्रकार का होता है, (१) आङ्गिक, (२) वाचिक, (३) आहार्य और (४) सात्त्विक।

रूपक के भेद—रूपक के दस भेद होते हैं—

(१) नाटक, (२) प्रकरण, (३) भाण, (४) व्यायोग, (५) समवकार, (६) डिम, (७) ईहामृग, (८) अङ्क, (९) वीथी और (१०) प्रहसन।

उपरूपक के भेद—उपरूपक के अट्ठारह भेद होते हैं—

१—रूपारोपात्तु रूपकम्।—साहित्यदर्पण, ६।१॥

(१) नाटिका, (२) त्रोटक, (३) गोष्ठी, (४) सट्टक, (५) नाट्य रासक, (६) प्रस्थान, (७) उल्लाप्य, (८) काव्य, (९) प्रेङ्खण, (१०) रासक, (११) संलापक, (१२) श्रीगदित, (१३) शिल्पक, (१४) विलासिका, (१५) दुर्मल्लिका, (१६) प्रकरणी, (१७) हल्लीस और (१८) भणिका।

विमर्श—यदि इन सब भेदों की पृथक्-पृथक् विशेषताओं को हटा दें, तो सब का लक्षण (सामान्य स्वरूप) नाटक के ही समान होता है।[1]

२—श्रव्य काव्य—जिस काव्य का दूसरे के मुख से सुनकर या स्वयं पढ़ कर रसास्वादन किया जाय उसे श्रव्य काव्य कहते हैं। यह पद्य-बद्ध और गद्य-बद्ध दोनों रूपों में होता है।

पद्य—छन्दोबद्ध रचना को पद्य कहते हैं।

पद्यबद्ध काव्य के भेद

पद्य-बद्ध काव्य के छह प्रकार होते हैं—

(१) मुक्तक, (२) युग्मक, (३) सान्दानतिक, (४) कलापक, (५) कुलक और (६) प्रबन्ध।

मुक्तक—एक ही छन्द जब दूसरे छन्द की अपेक्षा न रखकर रसविशेष या भावविशेष की अभिव्यक्ति में पूर्ण समर्थ होता है, तब उसे मुक्तक कहते हैं।

युग्मक—दो छन्द मिलकर जहाँ भाव विशेष की अभिव्यक्ति करते हैं वहाँ युग्मक होता है।

सान्दानतिक—तीन छन्दों में भाव को पूर्णता प्रदान करने वाली रचना सान्दानतिक कहलाती है।

कलापक—चार छन्दों में बद्ध काव्य को कलापक कहते हैं।

१—विना विशेषं सर्वेषां लक्ष्म नाटकवन्मतम्।—सा० द०, ६।६॥

कुलक--पाँच छन्दों में रचित काव्य को कुलक कहा जाता है।

प्रबन्ध—जब किसी नायक वा नायिका का वृत्त विस्तृत काव्य में रूप में प्रस्तुत किया जाता है, तब उसे प्रबन्ध कहते हैं।

प्रबन्ध काव्य के भेद

प्रबन्ध काव्य के दो भेद होते हैं—(१) खण्डकाव्य और (२) महाकाव्य।

खण्डकाव्य—जिसमें किसी नायक अथवा नायिका के जीवन के एक अंश का चित्रण किया जाता है उसे खण्डकाव्य कहते हैं। इसमें मानव-जीवन, समाज, प्रकृति आदि का सर्वाङ्गीण चित्रण नहीं होता। यह महाकाव्य के एक अंश को वर्ण्य बनाने वाला होता है।[1] जैसे—श्री रामधारी सिंह 'दिनकर' का 'कुरुक्षेत्र' काव्य।

(२) महाकाव्य—वह सर्गबद्ध रचना जिसमें किसी देवता अथवा सद्वंश क्षत्रिय या अन्य किसी धीरोदात्त-गुण-सम्पन्न सत्पुरुष का जीवन-वृत्त अङ्कित हो। महाकाव्य में एक अथवा एकवंशीय अनेक नायक हो सकते हैं। इसमें यों तो सभी रसों को स्थान मिलता है तथापि शृंगार, वीर और शान्त इनमें से कोई एक रस अङ्गी होता है, शेष अङ्ग। नाटक की सभी सन्धियों की योजना भी होनी चाहिए। सर्ग न तो बहुत बड़े हों और न विशेष छोटे ही। सन्ध्या, प्रभात, रात्रि, मध्याह्न, ऋतुओं, पर्वतों, तपोवनों और समुद्रों का वर्णन होना चाहिए। विविध चरित्र के पात्रों का चित्रण होना चाहिए। शुभ कर्म का शुभ फल तथा क्रूर कर्म का अशुभ फल दिखाना चाहिए आदि, आदि।[2]

१—खण्डकाव्यं भवेत् काव्यस्यैकदेशानुसारि च।—सा० द०, ६।३२९॥

२—सर्गबन्धो महाकाव्यं तत्रैको नायकः सुरः।

गद्य काव्य के भेद

गद्य काव्य चार प्रकार का होता है, (१) मुक्तक, (२) वृत्तगन्धि, (३) उत्कलिकाप्राय और (४) चूर्णक।

मुक्तक--इसमें पद्य का लेश भी नहीं रहता। पद समास-हीन होते हैं।

वृत्तगन्धि--गद्य के बीच-बीच में कहीं-कहीं छन्दोबद्ध रचना भी होती है।

उत्कलिकाप्राय—दीर्घसमासा पदावली से युक्त गद्य-रचना उत्कलिकाप्राय कही जाती है।

चूर्णक--इसमें छोटे-छोटे समस्त पद होते हैं।

सूचना--काव्य में ध्वनि, रस, रीति, गुण, अलङ्कार और छन्द ये सभी निर्दिष्ट रहते हैं; अतः अगले परिच्छेदों में क्रमशः उनका स्वरूप संक्षिप्त रूप में बताया जायगा।

सद्वंशः क्षत्रियो वापि धीरोदात्तगुणान्वितः ॥
एकवंशभवा भूपा बहवो कुलजाऽपि वा।
शृङ्गारवीरशान्तानामेकोऽङ्गी रस इष्यते ॥
× × × ॥—सा० द०, ६।३१५-३२४॥

अङ्क—१

ध्वनि

ध्वनि का इतिहास

हमारे पूर्ववर्ती आचार्यों की दृष्टि विशेष रूप से काव्य-पुरुष के शरीर पर ही टिकी रही। उन्होंने काव्य के अन्तःसाद्य का यत्न नहीं किया। इसीलिए उन्होंने चमत्कारक अलङ्कारों के स्वरूप-निर्देश में ही सारी शक्ति लगा दी। यह अलङ्कार-प्रेम परम्परा-बद्ध-सा हो गया था। अलङ्कार की प्रमुखता के प्रतिपादक भामह और दण्डी दो प्राच्य आचार्य हैं। वामन ने अपना ध्यान अलङ्कारों से थोड़ा हटाकर पद-रचना की ओर खींचा और विशिष्ट पद-रचना को 'रीति' कहकर इसी को काव्य की आत्मा कहा। उनके विचार में थोड़ी मौलिकता अवश्य है, पर अलङ्कार से वे भी अपने को पृथक् नहीं कर सके और अलङ्कार को ही काव्य-सौन्दर्य मानते रहे। काव्य-समीक्षा के क्षेत्र में मौलिक क्रान्ति हुई नवीं शताब्दी के मध्य भाग में और उस क्रान्ति के प्रणेता थे महान् चिन्तक आचार्य आनन्दवर्धन। ये सर्वथा नूतन ध्वनिमार्ग के प्रस्थापक हैं और इनका ग्रन्थ है ध्वन्यालोक। ये प्रसिद्ध काश्मीर-नरेश अवन्ति वर्मा के समय कवि के रूप में पूर्ण प्रख्यात हो चुके थे, जिसका उल्लेख प्रसिद्ध इतिहासकार कवि कल्हण ने अपनी 'राजतरङ्गिणी' में किया है।[२] इन्होंने

१—सौन्दर्यमलङ्कारः। —काव्यालङ्कार सूत्र, १।३॥

२—मुक्ताकणः शिवस्वामी कविरानन्दवर्धनः।
प्रथां रत्नाकरश्चागात् साम्राज्येऽवन्तिवर्मणः॥ —राजतरङ्गिणी।

ध्वनि की साङ्गोपाङ्ग खोज की और ध्वनि को ही काव्य की आत्मा कहा।

ध्वनि के उद्भव का मूल-स्थान

ध्वनि की खोज पहले-पहल साहित्य के क्षेत्र में नहीं हुई और न इसके प्रथम अवतारक ध्वनिकार हैं। इन्होंने स्वयं कह दिया कि ध्वनि का स्वरूप पहले के विद्वज्जनों ने निश्चित कर दिया है,[1] अर्थात् आचार्य आनन्द की यह सर्वथा नूतन खोज नहीं है। और यतः व्याकरण सभी विद्याओं का मूल है, अतः वैयाकरणों ने ही ध्वनि का स्वरूप बताया है। वे श्रूयमाण वर्णों में 'ध्वनि' का व्यवहार करते हैं और उनके मतानुयायी विद्वानों ने—काव्य-तत्त्वार्थ-दर्शकों ने वाच्य-वाचक तथा सम्मिश्र शब्द को आत्मा के रूप में धारण करनेवाले काव्य और व्यञ्जना व्यापार को ध्वनि कहा है।[2]

वैयाकरणों का स्फोटवाद

शब्द जब कहीं उत्पन्न होता है, तब वह वायु की तरङ्गों पर होता हुआ पूरे वायु-मण्डल में फैल जाता है। जब वह शब्द हमारी श्रोत्रेन्द्रिय के सन्निकर्ष में आता है तब हम उसे सुनते हैं। फिर वह उत्तरोत्तर आगे बढ़ जाता है। प्रथम उत्थित शब्द के पश्चात् उत्पन्न होने वाले शब्द 'शब्दज' होते हैं। इस प्रकार शब्द की प्रसार-क्रिया में दो प्रकार के मत हैं—

१—यत्रार्थः शब्दो वा तमर्थमुपसर्जनीकृतस्वार्थौ।
व्यक्तः काव्यविशेषः स ध्वनिरिति सूरिभिः कथितः॥—ध्वन्यालोक, १।१३॥

२—'सूरिभिः कथितः' इति विद्वदुपज्ञेयमुक्तिः, न तु यथाकथञ्चित् प्रवृत्तेति प्रतिपाद्यते। ते च श्रूयमाणेषु वर्णेषु ध्वनिरिति व्यवहरन्ति

(१) वीचि-तरङ्ग-न्याय और

(२) कदम्ब-मुकुल-न्याय।

जिस प्रकार जलाशय में कंकड़ी फेंक देने से प्रारम्भ में जो लहर उत्पन्न होती है, उससे क्रमशः और लहरियाँ उत्पन्न होती जाती हैं और वे पूरे जलाशय में छा जाती हैं, यही स्थिति शब्द की उत्पत्ति और उसके प्रसार की है। इसी को 'वीचि-तरङ्ग-न्याय' कहते हैं।

कदम्ब की कली के बीच में प्रारम्भ में एक कील-सी रहती है। धीरे-धीरे उसके चारों ओर उसी प्रकार की कीलें निकलने लगती हैं और अन्त में कली वैसी कीलों से आवृत्त हो जाती है। यही हुआ 'कदम्ब-मुकुल-न्याय।'

शब्द जहाँ से उत्पन्न होता है, उस स्थान को छोड़ कर आगे बढ़ जाता है। इसीलिए न्यायशास्त्र में 'शब्द' को अनित्य माना गया है। व्याकरण-शास्त्र में 'शब्द' नित्य माना जाता है और जब वह एक स्थान को त्याग कर आगे बढ़ जाता है तब वैयाकरण शब्द का नाश नहीं, अपितु उसका तिरोभाव मानते हैं। शब्द यदि तुरत नष्ट हो जाय तो एक-एक वर्ण के तुरत नाश पर शब्द, पद और वाक्य की रचना ही असम्भव हो जाय। और जब वाक्य ही नहीं बनेगा तब वाक्यार्थ का बोध होगा कैसे? इसी समस्या को सुलझाने के लिए वैयाकरणों ने 'स्फोटवाद' की सृष्टि की। 'स्फोट' का अर्थ है, वह शक्ति

तथैवान्यैस्तन्मतानुसारिभिः काव्यतत्त्वार्थदर्शिभिर्वाच्यवाचकसम्मिश्रः शब्दात्मा काव्यमिति व्यपदेश्यो व्यञ्जकत्वसाम्याद् ध्वनिरित्युक्तः।—ध्वन्यालोक, १।१३, वृत्ति॥

जिससे अर्थ स्फुटित होता है (स्फुटति अर्थो यस्मात्)। उच्चरित वर्णों की ध्वनि को ग्रहण करके हम अर्थ-ग्रहण करते हैं, यह क्रिया बुद्धि द्वारा सम्पन्न होती है। उच्चरित शब्द-समूह का ग्रहण बुद्धि करती जाती है, इसी गृहीत शब्द-समुदाय का नाम है व्याकरण में 'स्फोट'। इस स्फोट के आठ प्रकार बताए गए हैं—

[१] वर्ण-स्फोट, [२] पद-स्फोट, [३] वाक्य-स्फोट, [४] अखण्ड पद-स्फोट, [५] अखण्ड वाक्य-स्फोट, [६] वर्ण-जाति-स्फोट, [७] पदजाति-स्फोट और [८] वाक्यजाति-स्फोट।

'स्फोट का उल्लेख महर्षि पतञ्जलि के महाभाष्य में सर्व-प्रथम हुआ है। ध्वनिकार का 'सूरिभिः' से तात्पर्य महर्षि पतञ्जलि, भर्तृहरि आदि वैयाकरणों से है। 'स्फोट' का समानार्थक शब्द 'ध्वनि' साहित्य में परिगृहीत हुआ। आरम्भ में अर्थात् ध्वनि की प्रस्थापना के पूर्व ध्वनि के तीन विरोधी थे, जिनका उल्लेख आलोक के आरम्भ में ही ध्वनिकार ने किया है, (१) अभाववादी, (२) भाक्त और (३) अलक्षणीयत्ववादी।[1] अभाववादियों में हैं, कतिपय ध्वनिकार के पूर्ववर्ती और एक हैं उनके समकालीन मनोरथ कवि, जिनका ध्वनि का अभाव-प्रदर्शक एक श्लोक ही ध्वनिकार ने वृत्ति-भाग में उद्धृत कर दिया है।[2] भाक्त हैं—भामह, उद्भट, वामन आदि आचार्य।

१—काव्यस्यात्मा ध्वनिरिति बुधैर्यः समाम्नातपूर्व—
स्तस्याभावं जगदुरपरे भाक्तमाहुस्तमन्ये।
केचिद्वाचां स्थितमविषये तत्त्वमूचुस्तदीयं
तेन ब्रूमः सहृदयमनःप्रीतये तत्स्वरूपम् ॥—ध्वन्यालोक, १।१

२—यस्मिन्नस्ति न वस्तु किञ्चन मनःप्रह्लादि सालङ्कृति
व्युत्पन्नै रचितन्न चैव वचनैर्वक्रोक्तिशून्यं च यत्।

आचार्य भामह ने काव्य के आठ हेतु गिनाए हः शब्द, छन्द, अभिधान, अर्थ, इतिहासाश्रित कथा, लोक, युक्ति और कला।[1] इनमें 'अभिधान' से तात्पर्य है—अर्थ-बोधनपरक व्यापार। अर्थात् जिस व्यापार के द्वारा अर्थ-बोध होता है उसका नाम है अभिधान। यह अभिधान मुख्य और गौण दो प्रकार का होता है, यह भट्टोद्भट का कहना है।[2] वामन ने सादृश्यमूलक लक्षणा को माना है।[3]

इस प्रकार भाक्त वे हैं जो ध्वनि का विरोध तो नहीं करते किन्तु ध्वनि का काम भक्ति या लक्षणा से ही निकालना चाहते हैं। तीसरे अलक्षणीयतावादियों का कहना है कि जब प्राच्य आचार्यों ने केवल लक्षणा का निर्देश करके ध्वनि का लक्षण तक नहीं किया तब उसका कोई लक्षण हो ही नहीं सकता। ध्वनिकार ने इन तीनों का भ्रम दूर करने के लिए ही ध्वन्यालोक की रचना की और अपनी विस्मयोत्पादक शेमुषी से पूर्ण विद्वत्ता के साथ ध्वनि का स्वरूप बताते हुए काव्य के विविध

काव्यं तद्ध्वनिना समन्वितमिति प्रीत्या प्रशंसञ्जडो
नो विद्मोऽभिदधाति किं सुमतिना पृष्टः स्वरूपं ध्वनेः॥—वही, वृत्ति भाग।

१—शब्दाश्छन्दोऽभिधानार्था इतिहासाश्रयाः कथाः।
लोको युक्तिः कलाश्चेति मन्तव्या काव्यहेतवः॥—काव्यालंकार (भामह)

२—शब्दानामभिधानमभिधाव्यापारो मुख्यो गुणवृत्तिश्च।—भामह-विवरण (भट्टोद्भट)

३—सादृश्याल्लक्षणा वक्रोक्तिः।

अङ्गों और उसके स्वरूप को भी निर्दिष्ट किया। इस प्रकार काव्य-शास्त्र के क्षेत्र में जो हानिकारक रूढ़ियाँ चली आ रही थीं, उनका निराकरण भी कर डाला। उन्हें भाष्यकार भी मिले अनेक शास्त्रों के प्रकाण्ड विद्वान् अभिनव गुप्तपादाचार्य। उहोंने 'ध्वनि' शब्द के चार अर्थ किए—

१—'ध्वनतीति ध्वनिः' अर्थात् वह शब्द जिससे ध्वनि उत्पन्न होती है।

२—'ध्वन्यत इति ध्वनिः' अर्थात् जो ध्वनि (अर्थ) निकलती है।

३—'ध्वननं ध्वनिः' अर्थात् ध्वनन रूप व्यापार (व्यञ्जना व्यापार) ध्वनि है।

४—'ध्वन्यतेऽस्मिन्निति ध्वनिः', अर्थात् वह काव्य जिसमें ध्वनि-चतुष्टय होते हैं, वह काव्य ध्वनि है।

इस प्रकार ध्वनि के अन्तर्गत—(१) वाचक शब्द और वाच्यार्थ, (२) व्यङ्ग्यार्थ (३) व्यञ्जना-व्यापार, ध्वनि-चतुष्टय (शब्द, अर्थ, व्यंग्यार्थ और व्यञ्जना व्यापार) सभी आ जाते हैं। ध्वनि की स्थापना के द्वारा ध्वनिकार ने ध्वनि-सम्बन्धी भ्रान्तियों का निराकरण कर दिया; रस, रीति, गुण और अलङ्कार सबको ध्वनि के भीतर ही समेट लिया और ध्वनि को काव्य की आत्मा बताकर काव्य-समीक्षा के क्षेत्र में नूतन क्रान्ति ला दी।

आचार्य मम्मट

ध्वनिकार की कृति के सामने आने पर उनके कई प्रबल विरोधी उठ खड़े हुए। जिनमें मुख्य हैं, भोजराज, कुन्तक और महिमभट्ट। आचार्य मम्मट ने अपने अगाध पाण्डित्य के बल

पर बड़ी प्रौढ़ शैली में इन सबकी मान्यताओं का सर्वथा खण्डन कर डाला और उनकी मान्यताओं की निस्सारता सबके समक्ष खोलकर रख दी। ध्वनि-सम्बन्धी इनका विवेचन 'काव्य-प्रकाश' के द्वितीय, तृतीय, चतुर्थ और पञ्चम उल्लासों में विस्तार के साथ देखा जा सकता है। इनकी ही लेखनी का प्रभाव है कि इनके पश्चात् फिर किसी को ध्वनि का विरोध करने का साहस नहीं हुआ और ये ध्वनि-प्रस्थापन-परमाचार्य की उपाधि से भूषित एवं आदृत हुए।

ध्वनि

(शब्द-शक्तियाँ)

साहित्य-शास्त्र में शब्द तीन प्रकार के कहे गए हैं—

(१) वाचक, (२) लक्षक और (३) व्यञ्जक।

इसी प्रकार उपर्युक्त तीनों प्रकार के शब्दों के अर्थ भी तीन प्रकार के होते हैं :—

(१) वाच्य, (२) लक्ष्य और (३) व्यंग्य।

उपर्युक्त शब्दार्थ काव्य में होते हैं, सर्वत्र नहीं।

सूचना—इन शब्दों से यह नहीं समझना चाहिए कि वाचक शब्दों में केवल वाच्यार्थ, लक्षक शब्दों में केवल लक्ष्यार्थ और व्यंजक शब्दों में केवल एक ही व्यंग्यार्थ हुआ करता है, बल्कि तीनों प्रकार के अर्थों में कोई-न-कोई 'व्यंग्यार्थ' भी अवश्य रहता है।

(१) वाचक शब्द

जिस शब्द के द्वारा उसका लोक-विदित अर्थ प्रकट हो उस शब्द को वाचक कहते हैं।

(१) मुख्यार्थ और अभिधाशक्ति

किसी शब्द के मुँह से निकलते ही या पढ़ते ही तुरत जिस अर्थ की प्रतीति होती है उसे मुख्यार्थ कहते हैं। यह मुख्यार्थ जिस व्यापार के द्वारा विदित होता है उसे 'अभिधा' कहते हैं। सामान्य बातचीत में अथवा कहानी, उपन्यास, निबन्ध आदि में मुख्यार्थ का ही प्रयोजन होता है और वहाँ 'अभिधाशक्ति' ही व्यवहार में लाई जाती है। किन्तु काव्य में 'अभिधाशक्ति' की प्रधानता नहीं होती। जिस काव्य में मुख्यार्थ ही कवि का लक्ष्य होता है उसे अधम कोटि का काव्य कहते हैं। उच्चकोटि के काव्यों में लक्ष्यार्थ और व्यंग्यार्थ की प्रधानता होती है।

(२) लक्षक या लाक्षणिक शब्द

यदि कवि के कहे गए शब्द के द्वारा उसके अभीष्ट अर्थ की सिद्धि न हो, केवल उसका सम्बन्ध बना रहे, और वाच्यार्थ के द्वारा उस अभीष्ट अर्थ की सिद्धि में बाधा पड़ती हो, तो उस अभीष्ट अर्थ की सिद्धि के लिए मुख्यार्थ या वाच्यार्थ को छोड़कर जिस शब्द-शक्ति के बल पर एक भिन्न अर्थ लगाया जाता है उसे 'लक्षणा शक्ति' कहते हैं और ऐसे शब्द को जो अपने वाच्यार्थ द्वारा अभीष्टार्थ में बाधा पहुँचाता है, लक्षक या लाक्षणिक शब्द कहते हैं।

ऊपर जिस अभीष्टार्थ की बाधा की चर्चा की गई है, वह बाधा मुख्यतः दो कारणों से सामने आती है, (१) जब किसी शब्द के आरम्भ से व्यवहृत वाच्यार्थ को छोड़कर लोग उसका प्रयोग दूसरे अर्थ में करने लगते हैं, तब उसक

१—मुख्यार्थबाधे तद्योगे रूढ़ितोऽथ प्रयोजनात्।
अन्योऽर्थो लक्ष्यते यत्सा लक्षणारोपिता क्रिया ॥—काव्य-प्रकाश, २।१२

अर्थ रूढ़िगत हो जाने के कारण, और (२) किसी मुख्य प्रयोजन के कारण (जब कि शब्द अपने वाच्यार्थ को छोड़ने को बाध्य होता है)।

लक्षणा के भेद

लक्षणा के मुख्य दो भेद होते हैं—

(१) रूढ़ि और (२) प्रयोजनवती।

रूढ़ि लक्षणा—जब कोई शब्द अपने पहले के वाच्यार्थ को छोड़कर किसी विशेष अर्थ में रूढ़ हो जाता है और लोग उसका उसी रूढ़ अर्थ में ही प्रयोग करने लगते हैं, तब वहाँ रूढ़ि लक्षणा होती है।

उदाहरण

कुशल करों में मृदुल तूलिका लेकर
चित्र बनानेवाले।
मेरे मानस को छवि कर दो
अंकित, प्राण जुड़ाने वाले॥

—स्वकीय

उपर्युक्त कविता में 'कुशल' शब्द का जो प्रयोग हुआ है, वह अपने वाच्यार्थ (कुश को ग्रहण करने वाला) को छोड़कर प्रवीण या चतुर के रूढ़ अर्थ में प्रयुक्त हुआ है, अतः यहाँ रूढ़ि लक्षणा हुई।

प्रयोजनवती लक्षणा

जहाँ किसी शब्द के वाच्यार्थ को किसी प्रयोजन विशेष के कारण छोड़कर एक दूसरे ही अर्थ की कल्पना कर ली जाती है वहाँ प्रयोजनवती लक्षणा होती है।

उदाहरण

वियोगी होगा पहला कवि
आह से निकला होगा गान;
उमड़कर आँखों से चुपचाप
बही होगी कविता अनजान।

—पन्त

इस कविता में कवि कहता है कि 'कवि की आँखों से पहले-पहल कविता उमड़कर बही होगी।' किन्तु हम देखते हैं कि आँखों से कविता नहीं बहा करती बल्कि आँसू बहा करते हैं। अतः कवि के अभिप्रेत अर्थ में वाच्यार्थ द्वारा बाधा पहुँची और तब प्रयोजनवश हमने यह अर्थ किया कि कविता का जन्म आँखों के आँसुओं की तरह वेदना से होता है। अतः यहाँ प्रयोजनवती लक्षणा हुई।

सूचना—यहाँ एक बात जान लेनी चाहिए कि रूढ़ि लक्षणा में व्यंग्यार्थ नहीं होता और प्रयोजनवती लक्षणा में व्यंग्यार्थ होता है।

पुनः इन दोनों लक्षणाओं के दो भेद हो जाते हैं—

(१) शुद्धा और (२) गौणी।

शुद्धा लक्षणा

जहाँ विषयी या आरोप्यमाण और विषय या आरोप्य में कार्य-कारण या जन्य-जनक भाव होता है, वहाँ शुद्धा लक्षणा होती है।

गौणी लक्षणा

जहाँ विषयी और विषय में सादृश्य-सम्बन्ध (समानता) होता है वहाँ गौणी लक्षणा होती है।

पुनः शुद्धा लक्षणा और गौणी लक्षणा के दो-दो भेद हो जाते हैं।

शुद्धा लक्षणा के भेद

(१) सारोपा, (२) साध्यवसाना, (३) लक्षण और (४) उपादान।

शुद्धा सारोपा—जहाँ पर विषयी (आरोप्यमाण) और विषय (आरोप्य) दोनों स्पष्ट रूप से कार्य-कारण रूप में भिन्न-भिन्न कहे जायँ और एक ही आधार पर स्थित हों, वहाँ सारोपा शुद्धा लक्षणा होती है।

उदाहरण

सरलपन ही था उसका मन,
निरालापन था आभूषन।
कान से मिले अजान नयन,
सहज था सना सजीला तन।

—'पल्लव'

उपर्युक्त कविता में कवि कहता है कि उसका (प्रेयसी का) मन सरलपन ही था। मन से ही सरलता उत्पन्न होती है, अतः दोनों में जन्य-जनक भाव होने के कारण शुद्धा लक्षणा हुई। मन और सरलपन दोनों का अपना-अपना पृथक् अस्तित्व है, अतः यहाँ 'शुद्धा सारोपा' लक्षणा हुई। इसी प्रकार आगे की पंक्ति में जहाँ कवि कहता है—

'निरालापन था आभूषन।'

यहाँ निरालापन और आभूषण दोनों अपना पृथक् अस्तित्व रखते हैं और दोनों समानाधिकरण हैं, साथ ही दोनों में कार्य-कारण सम्बन्ध भी है। निरालेपन के कारण कवि की प्रिया का सौंदर्य बढ़ गया है। अतः यहाँ शुद्धा सारोपा लक्षणा हुई।

शुद्धा साध्यवसाना

जहाँ विषयी (आरोप्यमाण) और विषय (आरोप्य) दोनों में अभेद सम्बन्ध हो, अर्थात् विषय विषयी में इस प्रकार घुल-मिल जाय कि उसका पृथक् अस्तित्व ही विलीन हो जाय, वहाँ शुद्धा साध्यवसाना लक्षणा होती है।

जैसे, यदि कहा जाय कि घृत ही आयु है (आयुरेव घृतम्), तो यहाँ अर्थ हुआ कि घी ही आयु का कारण है, अर्थात् आयु में ही घृत मिल गया है, विलीन हो गया है। उसका आयु से पृथक् कोई अपना अस्तित्व नहीं है, अतः यहाँ शुद्धा साध्यवसाना लक्षणा हुई।

उदाहरण

यही तो है बचपन का हास,
खिले यौवन का मधुप-विलास।
प्रौढ़ता का यह बुद्धि-विकास,
जरा का अन्तर्नयन-प्रकाश।
जन्म-दिन का है यही हुलास,
मृत्यु का यही दीर्घ निःश्वास।

—पल्लव

उपर्युक्त रचना में कवि ने स्नेह को ही बचपन का हास, खिले यौवन का मधुप-विलास, प्रौढ़ता का बुद्धि-विकास और जरा का अन्तनयन-प्रकाश कहा है, अर्थात् स्नेह के ही कारण बचपन का हास फूटता है, यौवन का विलास भी स्नेह के ही कारण होता है, स्नेह के ही कारण प्रौढ़ता में बुद्धि विकसित होती है और वृद्धावस्था में अन्तश्चक्षु प्राप्त हो जाते हैं, इसका अपना कोई पृथक् अस्तित्व नहीं है। यहाँ विषयी (हास, विलास, बुद्धि-विकास और अन्तर्नयन-प्रकाश) में स्नेह घुलमिल कर विलीन

हो गया है। अतः उपर्युक्त काव्य-पंक्तियों में शुद्धा साध्यवसाना लक्षणा हुई।

(३) लक्षणलक्षणा

जहाँ कोई शब्द किसी विशेष अर्थ की सिद्धि के लिए आत्म-समर्पण कर देता है, अपने अस्तित्व को खो देता है, वहाँ 'लक्षण-लक्षणा' होती है।

यथा—

'महात्मा गांधी के दर्शन के लिए सारा नगर चल पड़ा।'

यहाँ 'सारा नगर चल पड़ा', इस वाक्य का वाच्यार्थ यह हुआ कि विशाल भवनों और सड़कों से सुसज्जित नगर एक चेतन प्राणी की भाँति चल पड़ा। किन्तु नगर कोई चेतन पदार्थ नहीं है, अतः 'नगर' का अर्थ करना पड़ा, 'नगर-वासी' यहाँ नगरवासियों के लिए नगर ने आत्म-समर्पण कर दिया, अतः यहाँ लक्षणलक्षणा हुई। इसी प्रकार 'कुआँ खारा है' आदि वाक्यों में भी लक्षण-लक्षणा समझनी चाहिए।

उदाहरण

अपनी ही छवि से विस्मित हो,
जगती के अपलक लोचन।
सुमनों के पलकों पर सुख से,
करने लगे सलिल-मोचन।

यहाँ 'जगती के अपलक लोचन' पद में यह तात्पर्य निकालना पड़ा कि 'जगतीवाले मनुष्यों की अपलक आँखें।' अतः अपेक्षित अर्थ-सिद्धि के लिए 'जगती' शब्द का आत्मसमर्पण होने के कारण यहाँ लक्षणलक्षणा हुई।

(४) उपादान लक्षणा

जहाँ कोई लाक्षणिक शब्द अभीष्ट अर्थ की सिद्धि के लिए औरों का आक्षेप कर ले, अर्थात् जहाँ केवल एक अंश मात्र से अर्थ की सिद्धि न होती हो, वहाँ उससे सम्बन्ध रखनेवाले अन्य पदार्थों का भी उपादान या आक्षेप कर लिया जाता है। इस प्रकार दूसरे का आनयन कर लेने वाली शुद्धा लक्षणा को, उपादान लक्षणा[1] कहते हैं।

'गाँधी-टोपियाँ चली आ रही हैं।'

यहाँ 'गाँधी टोपियों' के निर्जीव एवं गमन-व्यापार में अक्षम होने के कारण यह आक्षेप करना पड़ा कि 'गाँधी टोपीधारी पुरुष' चले आ रहे हैं। अतः यहाँ उपादान लक्षणा हुई।

उदाहरण

पैर मेरे रुक गए होते कभी
राह में ही एक ठंढी साँस ले,
किन्तु तुम मुझको बढ़ाती ही गईं
प्राण में रोदन, अधर पर हास ले।

—स्वरचित

उपर्युक्त कविता में 'मेरे पैर एक ठंढी साँस ले राह में ही रुक गए होते', कहा गया है, जिसका अर्थ हुआ, "मैं राह में ही एक ठंढी साँस लेकर रुक गया होता और मंजिल तक पहुँच भी न पाता," इतना आक्षेप करना पड़ा, अन्यथा वाच्यार्थ से अर्थव्यक्ति नहीं हो सकती थी। अतः इस कविता में उपादान नामक शुद्धा लक्षणा हुई।

१—स्वसिद्धये पराक्षेपः परार्थे स्वसमर्पणम्।
उपादानलक्षणञ्चेत्युक्ता शुद्धैव सा द्विधा ॥ का० प्र०, २।१३ ॥

गौणी लक्षणा

जहाँ विषयी और विषय दोनों में सादृश्य-सम्बन्ध हो अर्थात् जहाँ आरोप्यमाण और जिसका आरोप किया जाय, दोनों में उपमान और उपमेय का सम्बन्ध हो, वहाँ गौणी लक्षणा होती है।

यथा

'सब सुत-बधू देवसरि-बारी।'

—राम-चरित-मानस

'महाराज दशरथ की चारों कुलवधुएँ गंगा-जल हैं', अर्थात् वे सब गंगाजल के समान शुद्ध, निर्मल और शीतल स्वभाव-वाली हैं। यहाँ विषयी देवसरि-बारी (गंगाजल) और विषय सुतवधुएँ हैं, इन दोनों में सादृश्य-सम्बन्ध है। अतः यहाँ गौणी लक्षणा हुई। इसके दो भेद हैं:—

(१) गौणी सारोपा और (२) गौणी साध्यवसाना।

गौणी सारोपा—जहाँ विषयी और विषय दोनों समानाधिकरण होते हुए अपना पृथक्-पृथक् अस्तित्व रखते हों, वहाँ गौणी सारोपा होती है। ऊपर दिया गया उदाहरण (सब सुत-बधू देवसरि-बारी) गौणी सारोपा का उदाहरण हुआ। इसी प्रकार जहाँ किसी मनुष्य पर मनुष्येतर (बृहस्पति, इन्द्र, स्वर्गीय किसी महापुरुष अथवा बैल, कुत्ता, गधा आदि) जीव का आरोप किया जाता है, वहाँ 'गौणी सारोपा' लक्षणा होती है।

गौणी साध्यवसाना

जहाँ पर विषय विषयी (आरोप्यमाण) में इस प्रकार विलीन हो जाय कि उसके पृथक् अस्तित्व का पता ही न चले, वहाँ गौणी साध्यवसाना होती है।

उदाहरण

धूलि की ढेरी में अनजान।
छिपे हैं मेरे मधुमय गान॥

—पल्लव

यहाँ कवि ने संसार का आरोप धूलि की ढेरी पर किया है, और संसार धूलि की ढेरी में विलीन हो गया है। साथ ही असारता को दोनों का धर्म बनाकर दोनों में सादृश्य भी स्थापित किया है। इसी प्रकार मधुमय गान में सुन्दर वस्तुओं को अध्यवसित कर दिया गया है और दोनों की साम्य-भावना भी व्यंजित है। अतः यहाँ गौणी साध्यवसाना लक्षणा हुई।

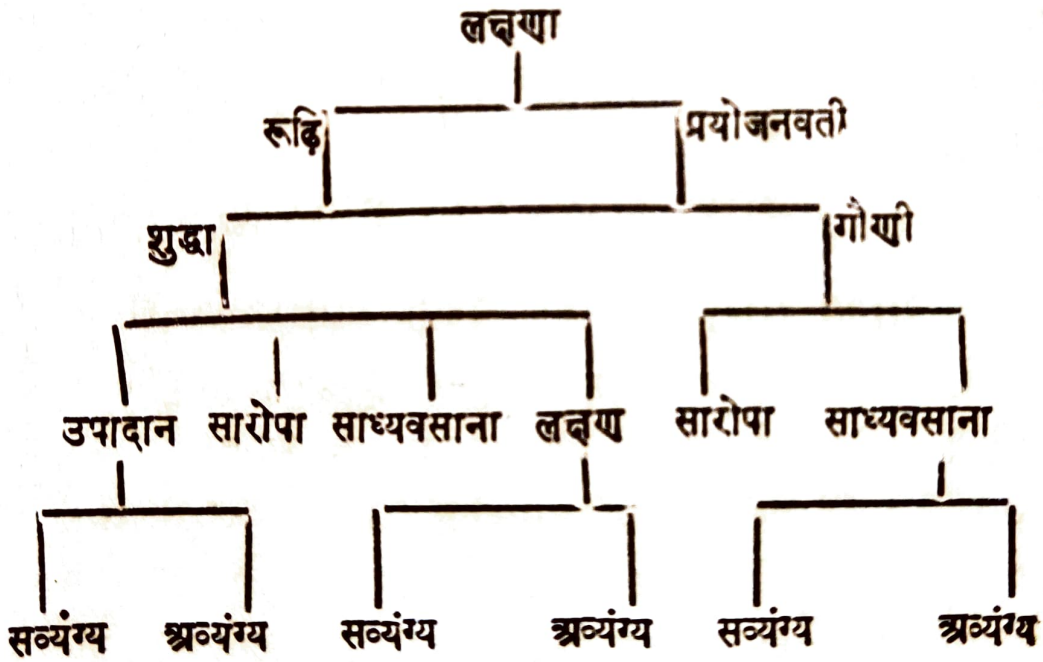

व्यञ्जना शक्ति

लोक-ज्ञान और काव्यानुशीलन से प्रखर बुद्धिशाली पुरुषों को किसी कविता में स्थान-स्थान पर वाच्यार्थ से भिन्न जो एक विशेष प्रकार की अर्थ-प्रतीति होती है, उसके कारण-रूप व्यापार का ही नाम व्यञ्जना है।

उच्चकोटि के काव्यों में जो व्यंग्य होते हैं उन्हें सामान्य या मोटी बुद्धि के पाठक समझ नहीं सकते, क्योंकि उनकी बुद्धि उस अभीष्ट गहराई तक पहुँच ही नहीं सकती।

वक्ता, श्रोता, काकु (ध्वनि-विकार), वाक्य, वाच्य (वाच्यार्थ), प्रकरण, स्थान, काल आदि का परिज्ञान रखने वाला ही व्यंग्य को समझ सकता है।

वाच्यार्थ और लक्ष्यार्थ से भिन्न प्रतीयमान अर्थ को ही व्यंग्यार्थ कहते हैं। इसी शक्ति को 'ध्वनि' कहते हैं और व्यंग्यार्थ को ध्वन्यर्थ।

१. उदाहरण

सखि हौं तो गई जमुना जल को,
सु कहा कहौं बीर बिपत्ति परी।
घहराय के कारी घटा उमड़ी,
इतनेई में गागर सीस धरी।
रपट्यो पग घाट चढ़्यो न गयौ,
कवि 'मंडन' ह्वै के बिहाल गिरी।
चिरजीवहु नन्द को बारो, अरी,
गहि बाँह गरीब ने ठाढ़ी करी॥

नायिका यमुना-तट पर जल लेने गई थी। वहाँ एकान्त था। उसी समय वहाँ उसका प्रियतम आ पहुँचा और दोनों का मिलन हुआ। जब दोनों अभी अलग नहीं हुए थे तभी एक दूसरी युवती उधर से आ निकली और उसने दोनों को पास-पास कुछ बातें करते देख लिया। नायिका को भय हुआ कि कहीं वह रहस्य समझ न जाय, इसी को छिपाने के लिए वह कहने लगी कि जल्दी घाट पर चढ़ने के कारण मैं

अचानक गिर पड़ी, इतने में ही कृष्ण उधर से आ निकले और बाँह पकड़ कर मुझे गिरने से बचा लिया।

इस कविता में संयोग-गोपन व्यंग्य है।

२. उदाहरण

सीख सिखाई न मानति है,
बर ही बस संग सखीन के धावै।
खेलति खेल नए जल में,
बिन काम बृथा कत जाम बितावै।
छोड़ि के साथ सहेलिन को,
रहि कै कहि कौन सवादहि पावै।
कौन परी यह बानि, अरी,
नित नीर भरी गगरी ढरकावै॥

—प्रतापसाहि

वयःसन्धि की देहरी पर पहुँची हुई नायिका को घड़े के जल में अपनी आँखों को देखने से मछलियों का भ्रम होता है और इसीलिए वह भरे हुए घड़े का पानी नित्य गिराकर मछलियों को पाना चाहती है। यहाँ भ्रान्तिमान् अलंकार व्यंग्य हुआ और व्यंग्यार्थ हुआ कि उस अज्ञात यौवना नायिका की आँखें मछली के समान हैं। इसी प्रकार और भी स्थानों पर कहीं लक्षणामूलक ध्वनि होती है और कहीं अभिधामूलक।

व्यञ्जना के दो भेद होते हैं:

(१) संलक्ष्यक्रम व्यंग्य और (२) अलक्ष्यक्रम व्यंग्य

अत्यन्त उत्तम कोटि के काव्य में अलक्ष्यक्रम व्यंग्य ही पाया जाता है, क्योंकि अत्यन्त कुशल काव्य-मर्मज्ञों की ही अन्तर्दृष्टि वहाँ तक पहुँच सकती है।

अङ्क—२

रस

रस के विचारक

भारतीय साहित्य-शास्त्र के समीक्षक जितने आचार्य हो गए हैं, वे चाहे किसी भी सम्प्रदाय के क्यों न हों, 'रस' से किसी का विरोध नहीं रहा। प्रत्यक्ष किंवा परोक्ष रूप में सब ने रस को काव्य की आत्मा माना है। 'रस' शब्द का प्रयोग वेदों में तीन अर्थों में हुआ है। निघण्टुकार ने इसे वाक्, उदक और अन्न—तीन अर्थों में वेदों में प्रयुक्त कहा है। उपनिषदों में आनन्द-स्वरूप ब्रह्म को रस कहा गया है।[1] काव्य की सृष्टि होने पर ब्रह्मानन्द-सहोदर काव्यानन्द को रस की संज्ञा प्राप्त हुई। काव्यानन्द के रूप में रस का उल्लेख सर्वप्रथम भरत मुनि ने अपने नाट्यशास्त्र में किया। नाट्यशास्त्र के षष्ठ और सप्तम अध्यायों में रसों और भावों का निरूपण मिलता है। आचार्य राजशेखर का कहना है कि रस के प्रथम उपदेशक आचार्य नन्दिकेश्वर हैं।[2] किन्तु उनके किसी ग्रन्थ का पता नहीं चलता। उनका उल्लेख भी किसी अन्य आचार्य ने नहीं किया है। ब्रह्मा के कहने से उन्होंने रस का उपदेश किया था। वेद का कहना है

१—रसो वै सः।—बृहदारण्यक

—रसाधिकारिकं नन्दिकेश्वरः। —काव्यमीमांसा, अध्याय १।

कि ब्रह्मा ही प्रथम कवि हैं।[1] उनका रस समुद्र ही है।[2] जो हो, प्राप्त आधार के अनुसार काव्य की आत्मा रस-रूप में देखनेवाले भरत मुनि ही ठहरते हैं। रस-निष्पत्ति के विषय में उनका यह सूत्र विश्व-विश्रुत हो चुका है—

"विभावानुभावव्यभिचारिसंयोगाद्रसनिष्पत्तिः"

अर्थात् विभाव, अनुभाव और व्यभिचारी भावों के संयोग से रस की सिद्धि होती है। इस सूत्र के दस भाष्यकारों का पता चलता है। वे हैं–भट्टोद्भट, भट्टलोल्लट, भट्टशंकुक, भट्टनायक, राहुल, भट्टयन्त्र, हर्ष, अभिनव गुप्तपादाचार्य, कीर्तिधर और मातृगुप्ताचार्य। इनमें चार आचार्य प्रमुख हैं—(१) भट्टलोल्लट, (२) भट्टशंकुक, (३) भट्टनायक और (४) अभिनवगुप्त।

ये चारों ही नाट्यशास्त्र के व्याख्याता हैं, ऐसा स्पष्ट प्रतीत होता है, यद्यपि अभी तक केवल आचार्य अभिनवगुप्त का ही 'अभिनव भारती' नामक भाष्य उपलब्ध हो सका है। उन्होंने अपने पूर्ववर्ती तीनों आचार्यों के मतों का खण्डन करके अपने नूतन सिद्धान्त की प्रतिष्ठा की है और वही परवर्ती सभी आचार्यों द्वारा मान्य हुई।

भट्टलोल्लट का मत

भट्टलोल्लट उत्पत्तिवादी हैं। इन्होंने रस-निष्पत्ति-सम्बन्धी भरत-सूत्र की व्याख्या करते हुए कहा है कि विभाव, अनुभाव

१—कविर्मनीषी परिभूः स्वयम्भूर्याथातथ्यतोऽर्थान् व्यदधाच्छाश्वतीभ्यः समाभ्यः।—शुक्ल यजुर्वेद, ४०।८॥

२—यस्य हिमवन्तो महित्वा यस्य समुद्रं रसया सहाहुः।—शु० यजु०, २५।१२॥

आदि के संयोग से रस मुख्य रूप से अनुकार्य रामादि में उत्पन्न होता है। सीता आदि विभाव रसोत्पत्ति के मुख्य कारण हैं। रामादि के अनुकारी नटों में भी गौण रूप से रसोत्पत्ति होती है। इन्होंने भरत-सूत्र के 'संयोग' शब्द का अर्थ : स्थायी भाव के साथ—आलम्बन और उद्दीपन विभावों का उत्पाद्य-उत्पादक सम्बन्ध, अनुभावों का गम्य-गमक सम्बन्ध और व्यभिचारियों का पोष्य-पोषक सम्बन्ध किया है। जिस प्रकार इन्होंने 'संयोग' शब्द का अर्थ 'तीन प्रकार के सम्बन्ध' किया है। उसी प्रकार 'निष्पत्ति' शब्द के भी तीन अर्थ किए हैं। स्थायी भाव के साथ आलम्बन विभाव का उत्पाद्य-उत्पादक सम्बन्ध होने से रस की निष्पत्ति अर्थात् उत्पत्ति होती है, अनुभाव का गम्य-गमक सम्बन्ध होने से रस की निष्पत्ति अर्थात् प्रतीति होती है और व्यभिचारी का पोष्य-पोषक सम्बन्ध होने से रस की निष्पत्ति अर्थात् पुष्टि या उपचिति होती है।

भट्ट लोल्लट मीमांसक हैं, इसीलिए ये रस की प्रत्यक्ष प्रतीति न मान कर आध्यासिक प्रतीति मानते हैं। इस मत की व्यर्थता मुख्यतया इस बात से सिद्ध होती है कि इन्होंने सामाजिक (दर्शक) में रसानुभूति मानी ही नहीं। जब दर्शक के हृदय में रस-निष्पत्ति होगी ही नहीं तब उसमें नाटक देखने की उत्सुकता जगेगी ही क्यों ? दूसरी बात यह कि अनुकार्य जब आज वर्तमान ही नहीं है तब उसमें रसोत्पत्ति की सम्भावना ही कहाँ रह जाती है ? और इसीलिए अभिनेता में भी रसोत्पत्ति की बाधा पड़ जाती है। अतः इनके मत का खण्डन सहज ही हो जाता है।

भट्टशंकुक का मत

भट्ट शङ्कुक नैयायिक हैं। इन्होंने अपने ढंग से आचार्य लोल्लट की त्रुटि को दूर करने का प्रयास किया है और रस के

साथ सामाजिक का अनुमित सम्बन्ध स्वीकार किया है। इनक कहना है कि अनुकारी या नट कृत्रिम रूप में अनुभावों क प्रकाशन करता है और सामाजिक उसमें वस्तुतः, रस की अनु पस्थिति में भी, रस का अनुमान कर लेता है। फिर अनुमित र का वह स्वयं आस्वाद करने लगता है।

शंकुक के अनुमितिवाद का दोष

आचार्य शंकुक ने अनुमान के द्वारा सामाजिक में जो रस-प्रतीति कराई है वह परोक्ष ही है, जब कि रसानुभूति प्रत्यक्ष होनी चाहिए। नट में कृत्रिम राम का अनुमान, नट के कृत्रिम अनुमान में यथार्थ अनुभव का अनुमान, यहाँ सब कुछ कृत्रिम ही है। अनुमान परोक्ष ही हुआ करता है, प्रत्यक्ष नहीं। अतः अनुमिति के बल पर भी रस की समस्या सुलझती नहीं।

भट्टनायक का भुक्तिवाद

भट्टनायक का मत उत्पत्ति और अनुमिति से सर्वथा पृथक् भुक्तिपरक है। इनका कहना है कि काव्य में व्यापार ही मुख्य-वस्तु होती है। इसके क्रमशः तीन रूप होते हैं, (१) अभिधा, (२) भावकत्व और (३) भोजकत्व। अभिधा द्वारा शब्दार्थ की प्रतीति होती है। भावकत्व द्वारा साधारणीकरण होता है, अर्थात् अनुकार्य अपना वैशिष्ट्य त्याग कर नट के माध्यम से साधारण मानव बन कर आता है। उसका व्यक्तित्व लोक-सामान्य व्यक्तित्व बन जाता है। भोजकत्व की दशा में सामाजिक का राजस और तामस भाव लुप्त हो जाता है और शुद्ध सात्त्विक भाव का उदय होता है। इसी दशा में वह रस-चर्वण

में समर्थ होता है। यहाँ मूल सूत्रगत 'संयोग' शब्द का अर्थ भोज्य-भोजक सम्बन्ध होता है और 'निष्पत्ति' का अर्थ होता है, 'भुक्ति'।

यहाँ 'अभिधा' व्यापार की बात तो ठीक जँचती है, किन्तु भावकत्व और भोजकत्व की अनावश्यक कल्पना का कोई समुचित आधार ही नहीं दिखाई पड़ता। अतः इन दो नूतन व्यापारों को कल्पना असङ्गत ही है।

अभिनवगुप्त का व्यक्तिवाद

आचार्य अभिनवगुप्त के अनुसार भरत मुनि के सूत्र में प्रयुक्त 'संयोग' शब्द का अर्थ है, 'व्यंग्य-व्यञ्जक' भाव और 'निष्पत्ति' का अर्थ है, 'अभिव्यक्ति'। इनका कहना है कि स्थायी भाव (रति, शोक हास आदि) प्रत्येक सामाजिक के हृदय में वासना-रूप में विद्यमान रहते हैं। यह वासना पूर्वजन्म के संस्कारों से अथवा इसी जन्म में काव्य के सेवन से उत्पन्न होती है। विभाव, अनुभाव और संचारी भावों के द्वारा इसकी अभिव्यक्ति होती है। जब व्यक्ति-विशेष काव्य के माध्यम से आलम्बन-रूप में सामने आता है तब वह अपना वैशिष्ट्य त्याग कर सामान्य बन जाता है, किसी एक का न होकर सब का बन जाता है। इसी प्रकार सामाजिक भी काव्य-श्रवण या नाट्य-दर्शन के समय 'स्व-पर' की भावनामयी स्थिति से ऊपर उठ जाता है, उसकी मनःस्थिति व्यष्टि-बद्ध न रह कर समष्टिमयी हो जाती है। वह समस्त सहृदयों के साथ मिल कर एकाकार हो जाता है और इसी लोक-सामान्य सहृदय की अलौकिक स्थिति में उसके हृदय में रस की अभिव्यक्ति होती है। उस स्थिति में शोक, क्रोध, भय आदि दुःखदायी भाव भी अलौकिक होकर

सुखदायी हो जाते हैं। इसीलिए हम काव्यगत ऐसे स्थलों से भी विरक्त नहीं होते। आचार्य अभिनवगुप्त का मत पूर्णतया मनोवैज्ञानिक होने के कारण सभी परवर्ती आचार्यों द्वारा मान्य और अभिनन्दित हुआ।

स्थायी-भाव

स्थायी भाव वे भाव हैं जो वासना रूप में प्रत्येक सहृदय के हृदय में नित्य निवास करते हैं। इसीलिए इनको 'स्थायी' कहा गया है। रस-निष्पत्ति के जो साधन कहे गए हैं, उनमें विभाव को कारण, अनुभाव को कार्य और व्यभिचारी को सहकारी कहा जाता है। विभाव के दोनों प्रकार—आलम्बन और उद्दीपन—यद्यपि रस की अभिव्यक्ति के कारण हैं, परन्तु इन्हें बाह्य कारण ही समझना चाहिए। रस-सिद्धि का मुख्य और आन्तर कारण है स्थायी भाव; क्योंकि यदि काव्य का श्रोता या नाटक का दर्शक सहृदय न हुआ, अर्थात् यदि स्थायी भाव वासना-रूप में उसके हृदय में स्थित नहीं रहा तो विभावादि की सम्यक् योजना होने पर भी उसके हृदय में रस की अभिव्यक्ति होगी ही नहीं। वैयाकरण और मीमांसक इसीलिए काव्य के अधिकारी नहीं माने गए। इस विषय में एक प्राचीन श्लोक प्रसिद्ध है—

नैव व्याकरणज्ञमेव पितरं न भ्रातरं तार्किकं
मीमांसानिपुणं नपुंसकमिति ज्ञात्वा निरस्तादरा।
दूरात्संकुचितेव गच्छति पुनश्चाण्डालवच्छान्दसं
काव्यालंकरणज्ञमेव कविताकान्ता वृणीते स्वयम्॥

अर्थात् 'कविता-कामिनी वैयाकरण को पिता समझती है, तार्किक को भाई, मीमांसक उसकी दृष्टि में नपुंसक है, वेदज्ञ

को वह चाण्डाल-सा अछूत समझती है। काव्यालङ्कार में निष्णात सहृदय के ही कण्ठ में वह स्वयंवर की विजय-माला पहनाती है।[1] ये स्थायी भाव ही विभाव आदि के द्वारा रस की संज्ञा प्राप्त करते हैं[1] भरत मुनि ने नाट्य-शास्त्र में केवल आठ ही स्थायी भावों को स्थान दिया है।[2]

परिभाषा—स्थायी भाव वह भाव है जो अपने से प्रतिकूल अथवा अनुकूल किसी भी भाव से पृथक् नहीं होता, अपितु सभी भावों को अपने रूप में मिला लेता है।[3]

स्थायी भावों की संख्या नव मानी गई है। भरत मुनि और आचार्य धनञ्जय ने नाटक में आठ ही रस माने हैं, शान्त को वे नाट्य में स्थान नहीं देते। धनञ्जय ने स्थायी भावों को इस प्रकार गिनाया है—

रत्युत्साहजुगुप्साः क्रोधो हासः स्मयो भयं शोकः।
शममपि केचित्प्राहुः पुष्टिर्नाट्येषु नैतस्य ॥—दशरूपक, ४।३५

१—कारणान्यथ कार्याणि सहकाराणि यानि च।
रत्यादेः स्थायिनो लोके तानि चेन्नाट्यकाव्ययोः ॥
विभावा अनुभावास्तत् कथ्यन्ते व्यभिचारिणः।
व्यक्तः स तद्विभावाद्यैः स्थायी भावो रसः स्मृतः ॥
—काव्यप्रकाश, ४।२७, २८

२—शृङ्गार-हास्य-करुण-रौद्र-वीर—भयानकाः।
बीभत्साद्भुतसंज्ञौ चेत्यष्टौ नाट्ये रसाः स्मृताः ॥
—नाट्य-शास्त्र, ६।१५

३—विरुद्धैरविरुद्धैर्वा भावैर्विच्छिद्यते न यः।
आत्मभावं नयत्यन्यान्स स्थायी लवणाकरः ॥
—दशरूपक, ४।३४

अर्थात् स्थायी भाव हैं—(१) रति, (२) उत्साह (३) जुगुप्सा, (४) क्रोध, (५) हास, (६) स्मय (आश्चर्य), (७) भय और (८) शोक। ये आठ स्थायी भाव हैं। कोई-कोई (९) शम को भी स्थायी भाव कहते हैं, किन्तु नाटक में इसकी पुष्टि नहीं होती।

इन स्थायी भावों के अतिरिक्त आचार्य विश्वनाथ महापात्र ने 'वत्सलता' को भी स्थायी भावों में गिनाया है[1] और 'वत्सल' या वात्सल्य को भी दसवाँ रस माना है। उनका कहना है कि यह मेरा ही मत नहीं है, प्राचीन मुनीन्द्र भरत भी इसे मान चुके हैं।[2] महाकवि महात्मा सूरदास के 'सूरसागर' को पढ़ लेने पर तो वात्सल्य को रस मानने में कोई हिचक होनी ही नहीं चाहिए। अतः स्थायी भावों की संख्या दस हुई—(१) रति, (२) उत्साह, (३) जुगुत्सा, (४) क्रोध, (५) हास, (६) आश्चर्य, (७) भय, (८) शोक, (९) शम और (१०) वत्सलता।

स्थायी भाव और मनोविज्ञान

आधुनिक मनोविज्ञान के मनीषियों ने मानव-स्वभाव की मूल प्रवृत्तियों की खोज-बीन बड़ी सतर्कता से की है। वास्तव में मानव-मानस का सूक्ष्म ज्ञान न रखने वाला साहित्य-क्षेत्र में पैर रख ही नहीं सकता। जो मानव-मानस का जितना ही व्यापक और सूक्ष्म ज्ञान रखता है वह उतना ही महान् कवि या साहित्यकार होता है। पाश्चात्य मानस-शास्त्रियों ने मनो-

---

१—स्फुटं चमत्कारितया वत्सलं च रसं विदुः।
स्थायी वत्सलता स्नेहः पुत्राद्यालम्बनम्मतम्॥
—साहित्यदर्पण, ३।२५१

२—अथ मुनीन्द्रसम्मतो वत्सलः।—वही

भावों का जो विश्लेषण किया है वह विज्ञान पर आधारित है। उनमें प्रसिद्ध मानस-शास्त्री मैगडूगल ने चौदह प्रकार की मूल प्रवृत्तियाँ और तत्सम्बद्ध चौदह 'मनःसंवेग' निश्चित किए हैं। जब इनसे हम भारतीय आचार्यों द्वारा निर्धारित मूल मनोविकारों की तुलना करते हैं तब स्पष्ट हो जाता है कि प्राच्य आचार्य मनोविज्ञान के महान् मर्मज्ञ थे। नीचे हम प्राच्य आचार्यों द्वारा मान्य स्थायी भावों के समानान्तर उन चौदह मूल प्रवृत्तियों को रख कर देखेंगे कि यह बात कहाँ तक मान्य है—

मनःसंवेग (Emotion)	मूल प्रवृत्तियाँ (Impulses)	स्थायी भाव	रस
१. भय	पलायन (Escape)	भय	भयानक
२. क्रोध	युयुत्सा (Combat)	क्रोध	रौद्र
३. घृणा	निवृत्ति (Repulsion)	जुगुप्सा	बीभत्स
४. करुण (दुःख)	शरणागति (Self-submission) सामाजिकता (Gregariousness)	शोक	करुण
५. काम	काम-प्रवृत्ति (Sex)		
६. आश्चर्य	कुतूहल, जिज्ञासा (Curiosity)	रति	शृङ्गार
७. हास	आमोद (Laughter)	विस्मय	अद्भुत
८. दैन्य	आत्महीनता (Appeal)	हास	हास्य
९. आत्म-गौरव (उत्साह)	आत्माभिमान (self-assertion) अधिकार-भावना (Acquisition)	निर्वेद उत्साह	शान्त वीर
१०. वत्सलता	मातृ-भावना (Parental)	वत्सलता	वात्सल्य

विभाव

रसानुभूति के कारण को विभाव कहते हैं।

प्रकार—इसके दो प्रकार होते हैं (१) आलम्बन विभाव और (२) उद्दीपन विभाव।

आलम्बन विभाव—जिसके आलम्बन (सहारे) से रस का उद्रेक होता है, उस प्रमुख कारण को आलम्बन विभाव कहते हैं। जैसे, दुष्यन्त और शकुन्तला, जिनके व्यापारों को देख कर सामाजिक के मन में 'रति' नामक स्थायी भाव या रस की अभिव्यक्ति होती है।

उद्दीपन विभाव—वे वस्तुएँ जिनके देखने से स्थायी भाव जगता है। जैसे 'रति' को जाग्रत करने में सहायक वस्तुएँ हैं: चाँदनी, त्रिविध समीर, कोकिल या चातक की बोली, भ्रमर-गुञ्जार, निभृत रमणीय प्रदेश आदि।

अनुभाव

वे शारीरिक, मानसिक आदि व्यापार जिनसे रसानुभूति की अभिव्यक्ति होती है। हृदय में रसोद्रेक के पश्चात् शरीर, मन और वाणी द्वारा अभिव्यक्त कार्य ही अनुभाव कहलाते हैं। भिन्न-भिन्न स्थायी भावों के भिन्न-भिन्न अनुभाव होते हैं। रसों के विवरण में ये बताए जाएँगे।

ये तीन प्रकार के होते हैं, (१) सात्त्विक, (२) कायिक और (३) आहार्य।

सात्त्विक—हृदय में रसानुभूति होते समय स्वतः उद्भूत कार्य को सात्त्विक अनुभाव कहते हैं। जैसे अश्रु, कम्प, स्वेद, रोमांच आदि।

कायिक—आलम्बन के द्वारा जान-बूझकर किए गए आंगिक कार्य, जिनसे आश्रय पर मनोनुकूल प्रभाव पड़े। जैसे—कटाक्ष, अङ्ग-संचालन, स्मिति आदि।

आहार्य—वे कार्य जो वाणी द्वारा प्रकट होते हैं, आहार्य अनुभाव कहलाते हैं।

व्यभिचारी भाव

जाग्रत स्थायी भाव को क्षण भर के लिए आकर और वेगवान् तथा पुष्ट बना देने में सहायक भावों को व्यभिचारी भाव या संचारी भाव कहते हैं। इनकी संख्या बहुत बड़ी होती है, किन्तु आचार्यों ने मुख्य रूप में केवल तैंतीस व्यभिचारी भाव गिनाए हैं। वे ये हैं—

(१) निर्वेद, (२) ग्लानि, (३) शङ्का, (४) असूया, (५) मद, (६) श्रम, (७) आलस्य, (८) दैन्य, (९) चिन्ता, (१०) मोह, (११) स्मृति, (१२) धृति, (१३) व्रीडा, (१४) चपलता, (१५) हर्ष, (१६) आवेग, (१७) जड़ता, (१८) गर्व, (१९) विषाद, (२०) औत्सुक्य, (२१) निद्रा, (२२) अपस्मार, (२३) स्वप्न, (२४) विबोध, (२५) अमर्ष, (२६) अवहित्थ, (२७) उग्रता, (२८) मति, (२९) व्याधि, (३०) उन्माद, (३१) मरण, (३२) त्रास और (३३) वितर्क।

रसों का पृथक्-पृथक् विवरण

प्राचीन आचार्यों ने नाटक में आठ तथा श्रव्य या पाठ्य काव्य में शान्त नामक एक और रस की स्थिति स्वीकार करके नव रस स्वीकार किये थे। आचार्य विश्वनाथ महापात्र ने वात्सल्य को भी स्वीकार किया और अब उनकी संख्या दस हो गई। आचार्य रुद्रट ने 'प्रेयान्' को दसवाँ रस माना था।

रसों की संख्या

आचार्यों ने मानव-मन में सदा स्थायी रूप से रहनेवाले ये दस रस बताए हैं--

(१) शृंगार, (२) हास्य, (३) करुण, (४) रौद्र, (५) वीर, (६) भयानक, (७) बीभत्स, (८) अद्भुत, (९) शान्त और (१०) वात्सल्य।

इन रसों के स्थायी भाव, आलम्बन, उद्दीपन, अनुभाव और सञ्चारी भाव पृथक्-पृथक् गिनाए गए हैं।

शृंगार रस

इसके दो भेद होते हैं, [१] संयोग और [२] विप्रलम्भ या वियोग।

स्थायी भाव—रति।

विभाव { आलम्बन--नायक और नायिका।
उद्दीपन—त्रिविध समीर, वन, उपवन, चन्द्र, चन्द्रिका, सरिता-तट, पुष्प आदि।

अनुभाव--स्तम्भ, स्वेद, रोमाञ्च, कम्प, स्वर-भङ्ग, अश्रु आदि।

शृंगार रस के सञ्चारी भाव

असूया, शंका, श्रम, जड़ता, उग्रता, मोह, विषाद, चिन्ता, स्वप्न, विबोध, अमर्ष, गर्व, उत्सुकता, दीनता, हर्ष, व्रीडा, निद्रा, व्याधि आदि।

(१) संयोग शृंगार

नायक और नायिका जब एक-दूसरे के पास रहते हैं अर्थात् जब वे परस्पर वियुक्त नहीं रहते तब उनके रति-भाव का चित्रण

करने वाली रचना संयोग शृंगार की रचना कही जाती है। इसमें प्रिय-मिलन का हर्ष प्राप्त होता है।

उदाहरण

सखि हौं तो गई जमुना-जल को
सु कहा कहौं बीर, बिपत्ति परी।
घहराइ के कारी घटा उमड़ी
इतनेई में गागर सीस धरी।
रपट्यो पग घाट चढ़्यौ न गयो
कवि 'मंडन' ह्वै के बिहाल गिरी।
चिरजीवहु नन्द को बारौ, अरी
गहि बाँह गरीब ने ठाढ़ करी॥

यहाँ वचन-विदग्धा नायिका द्वारा संयोग का गोपन किया गया है। इसमें संयोग शृंगार व्यंग्य है।

विप्रलम्भ या वियोग शृंगार

जहाँ नायक और नायिका की विरहावस्था चित्रित की जाती है और जिसके द्वारा पाठक या श्रोता के हृदय में दुःखात्मक रति भाव का उद्दीपन होता है, उसे विप्रलम्भ या वियोग शृंगार कहते हैं।

विप्रलम्भ के भेद—अवस्था, अथवा दुःखानुभूति के स्वरूप-भेद से विप्रलम्भ शृंगार के चार भेद होते हैं—

(१)पूर्वराग, (२) मान, (३) प्रवास और (४) करुण।

१—पूर्वराग—नायक और नायिका परस्पर आकृष्ट होने पर एक-दूसरे से मिलने को उत्कण्ठित तो हो जाते

हैं। किन्तु परिवार या समाज के बन्धन के कारण मिल नहीं पाते। इस दशा में दोनों को अत्यन्त व्यथा प्राप्त होती है। इस दशा का नाम पूर्वराग या पूर्वानुराग है।

उदाहरण

जब तें कुँवर कान्ह रावरी कलानिधान
कान परी वाके कहूँ सुजस-कहानी-सी।
तब ही तें 'देव' देखी देवता-सी, दौरति-सी,
रीझति-सी खीझति-सी रूसति रिसानी-सी।
छोही-सी छली-सी छीन लीनी-सी, छकी-सी छिन,
जकी-सी टकी-सी लगी थकी थहरानी-सी।
बाँधी-सी बँधी-सी विष-बूड़ति बिमोहित-सी
बैठी बाल बकति बिलोकति बिकानी-सी।

कामदशा—पूर्वराग नायक विप्रलम्भ शृङ्गार में नायक और नायिका की जो दशा होती है, उसे कामदशा कहते हैं। यह कामदशा दस प्रकार की होती है।[1] (१) अभिलाष, (२) चिन्ता, (३) स्मृति, (४) गुण-कथन, (५) उद्वेग, (६) सम्प्रलाप, (७) उन्माद, (८) व्याधि, (९) जड़ता और (१०) मरण।

(१) अभिलाष—नायक और नायिका द्वारा एक-दूसरे को पाने की इच्छा का नाम अभिलाष है।

१—अभिलाषश्चिन्तास्मृतिगुणकथनोद्वेगसम्प्रलापाश्च।
उन्मादोऽथ व्याधिर्जडता मृतिरिति दशात्र कामदशा॥ साहित्य-दर्पण, ३।१९०

उदाहरण

कौन बन कर हृदय की मधुर कामना
मूक संकेत में कर रही है मना ;
हो रहीं मुग्ध मन-सिन्धु की वीचियाँ
प्रेम के स्वर्ग की स्वर्णमय सीढ़ियाँ ॥

—मेरे 'छत्रसाल' महाकाव्य से

सकरहटी के दुर्गपति कुँवरसेन धंधेरा की पुत्री देवकुँवरि छत्रसाल का साक्षात्कार कर उन्हें प्राप्त करने के लिए व्याकुल हो उठी है। उसके मनःसिन्धु की कामनाएँ लहरों-सी ऊपर को उठ रही हैं, मानो प्रियतम के मिलन-स्थल रूपी स्वर्ग में पहुँचाने को सुनहली सीढ़ियों का निर्माण कर रही हों। यहाँ छत्रसाल आलम्बन, उनकी वीर-मुद्रा का स्मरण उद्दीपन, आशंका अनुभाव, उत्कण्ठा व्यभिचारी भाव और रति स्थायी भाव है।

(२) चिन्ता—प्रिय की प्राप्ति के उपाय का विचार या चिन्तन ही चिंता नामक दशा है।

उदाहरण

खरी दुपहरी हरी भरी फरी कुंज मंजु
गुंज अलि-पुंजन की 'देव' हियो हरि जात।
सीरे नद-नीर तरु सीतल गहीर छाँह
सोवैं परे पथिक पुकारैं पिकी करि जात।
ऐसे में किसोरी गोरी कोरी कुम्हिलाने मुख
पंकज से पाँय धरा धीरज सौं धरि जात।
सौहैं घनस्याम-मग हेरति हथेरी ओट
ऊँचे धाम बाम चढ़ि आवत उतरि जात ॥

यहाँ राधा कृष्ण से मिलने के लिए चिन्तित होकर उन्हें दूर से ही आते देखने का उपाय कर रही हैं।

(३) स्मृति—वियोग की दशा में प्रिय का स्मरण करना ही स्मृति है।

उदाहरण

वे अजान मृगनयन
दृगों में आकर तिरने लगते,
वे ही दृश्य हृदय-प्रांगण में
आकर फिरने लगते ॥

— मेरे 'छत्रसाल' महाकाव्य से

यहाँ छत्रसाल सुन्दरी वीराङ्गना देवकुँवरि की भोली आँखों और तत्कालीन वातावरण को बार-बार स्मरण करते हैं, उसे भुला नहीं पाते।

(४) गुण-कथन—जहाँ नायक या नायिका अपने प्रिय के सौन्दर्य आदि गुणों का वर्णन करे, वहाँ गुण-कथन नामक काम-दशा होती है।

उदाहरण

पतली काया उन्मुक्त और
चिन्तन में खोया मन होगा,
अन्तर में हो तूफान किंतु
अधरों पर मधु-सिंचन होगा।
होगा ललाट पर चन्द्र और
भौंहों पर इन्द्र-धनुष होगा,
आँखों में होगा आसमान
जिसका निमेष अकलुष होगा।

सिर पर बादल की घटा,
कपोलों पर विद्युन्नर्तन होगा,
चलने के साथ पवन की
गति में मादक परिवर्तन होगा।

—मेरे 'विहंग-सन्देश' काव्य से

यहाँ प्रवासी मलयानिल से अपनी प्रियतमा के गुण और सौन्दर्य का वर्णन करके उसका परिचय देता है।

(५) उद्वेग—प्रिय के साथ समागम न होने से चित्त की व्याकुलता का ही नाम 'उद्वेग' है।

उदाहरण

इत तैं उत, उत तैं इतै, छिनु न कहूँ ठहराति।
जक न परति, चकई भई, फिरि आवति, फिरि जाति॥

—बिहारी

यहाँ नायिका का कहीं भी क्षण भर स्थिर न बैठना उसके आन्तरिक उद्वेग को प्रकट करता है।

(६) सम्प्रलाप—वह आत्म-विस्मृति की दशा, जिसमें प्रणयी बिना किसी लक्ष्य के बकने या बड़बड़ाने लगता है, सम्प्रलाप दशा है।

उदाहरण

जादू जिसे सुना करता, क्या
सत्य हुआ करता है?
जो अन्तर में नए सिरे से
नया रंग भरता है!

—मेरे 'छत्रसाल' महाकाव्य से

प्रिया के प्रथम दर्शन के पश्चात् छत्रसाल का यह प्रलाप है। अतः पूर्वराग का उदाहरण है।

(७) उन्माद—दुःखातिशय की वह दशा जब प्रेमी जड़ और चेतन के अन्तर को समझनेवाला विवेक खो देता है। पशुओं, पक्षियों, वृक्षों आदि से भी वार्ता करने लगता है।

उदाहरण

एरे बीर पौन! तेरो सबै ओर गौन, वारी
तो-सो और कौन मनै ढरकौहीं बानि दै।
बगत के प्रान छोटे-बड़े तो समान
'घन आनँद' निधान सुख-दान दुखियानि दै।
जान उजियारे गुन भारे अति मोहि प्यारे
अब ह्वै अमोही बैठे पीठि पहिचानि दै।
बिरह-बिथा की मूरि आँखिन में राखौं पूरि
धूरि तिन पाँयनि की हा-हा नैकु आनि दै॥

—घन आनन्द

यहाँ उन्माद में विरहिणी पवन से प्रार्थना करती दिखाई पड़ रही है।

(८) व्याधि—वियोग में उसाँसें भरना, शरीर का पीला और दुर्बल पड़ जाना व्याधि है।

उदाहरण

साँसन ही सौं समीर गयो अरु आँसुन ही सब नीर गयो झरि।
तेज गयो गुन लै अपनो अरु भूमि गई तन की तनुता करि।
'देव' जियै मिलिबेई की आस, कि आसहु-पास अकास रह्यो भरि।
जा-दिन तैं मुख फेरि हरैं हँसि हेरि हियो जु लियो हरि जू हरि॥

—देव

यहाँ व्याधि का पूरा अधिकार शरीर पर हो गया है, केवल दर्शन की कामना से प्राण शरीर में अटके हुए हैं।

(६) जड़ता—जहाँ व्यथा के आधिक्य से शारीरिक और मानसिक चेष्टाएँ रुक जाती हैं, वहाँ जड़ता की दशा होती है।

उदाहरण

कहा लड़ैते दृग करे, परे लाल बेहाल।
कहुँ मुरली, कहुँ पीत पट, कहूँ मुकुट, बनमाल॥

—बिहारी

यहाँ कृष्ण मुरली, पीतपट, मुकुट, वनमाल सब कुछ की सुधि भूल कर जड़वत् पड़े दिखाए गए हैं। यही जड़ता की दशा है।

(१०) मरण—वियोग की तीव्र वेदना में जहाँ प्रिय की मृत्यु का वर्णन हो, वहाँ मरण दशा होती है। मृत्यु दिखाने से रस-भङ्ग होता है, अतः अनेक आचार्यों ने इसका वर्णन नहीं किया है।[1] किन्तु कुशल कवि रस-दोष बचाते हुए उसके भी उल्लेख से विमुख नहीं हुए।

उदाहरण

कहा कहौं वाकी दसा, हरि प्राननु के ईस।
बिरह-ज्वाल जरिबो लखैं, मरिबौ भयो असीस॥ —बिहारी

यहाँ विरह-ज्वाल में जलने और तड़पने की अपेक्षा मरण

१—रसविच्छेदहेतुत्वान्मरणं नैव वर्ण्यते।
जातप्रायं तु तद्वाच्यं चेतसाकांक्षितं तथा।
वर्ण्यतेऽपि यदि प्रत्युज्जीवनं स्याददूरतः॥—साहित्यदर्पण, ३।१९३, १९४

आशीर्वाद कहा गया है। इसे इस प्रकार बचाया गया है, लोगों ने उसकी दशा देख कर आशीर्वाद दिया कि वह मर जाय तभी अच्छा है; क्योंकि वह वेदना किसी से देखी नहीं जाती थी।

२—मान—नायक द्वारा जब कुछ त्रुटि हो जाने पर नायिका रूठ जाती है और उससे बात तक नहीं करती, तब उस दशा का नाम मान होता है और मान करनेवाली नायिका 'मानिनी' कहलाती है।

उदाहरण

सखी के सँकोच, गुरु-सोच मृगलोचनी
रिसानी पिय सों जु उन नैकु हँसि छुयो गात।
'देव' वै सुभाय मुसकाय उठि गए
यहि सिसिकि-सिसिकि निसि खोई रोय पायो प्रात।
को जानै री बीर बिनु बिरही-बिरह-बिथा
हाय हाय करि पछिताय ना कछू सुहात।
बड़े बड़े नैननि सों अँसुआ भरि भरि ढरि
गोरे-गोरे मुख परि ओरो-लौं बिलानो जात॥

मान दो प्रकार का होता है—(१) प्रणयमान और (२) ईर्ष्यामान।

(१) प्रणयमान—नायक और नायिका की अत्यन्त प्रमोद की दशा में अकारण ही जो मान किया जाता है, उसे प्रणयमान कहते हैं। यह क्षणिक और विशेषतः विनोदात्मक होता है।

उदाहरण

सतर भौंह, रूखे बचन, करति कठिनु मन नीठि।
कहा कहौं ह्वै जाति हरि हेरि, हँसौंही दीठि॥—बिहारी

बनावटी मान, जहाँ नायक से आँखें चार हुईं, समाप्त हो जाता है।

(२) ईर्ष्यामान—जहाँ नायिका पति में किसी दूसरी प्रियतमा से रमण का चिह्न देखती है, वा किसी के द्वारा सुनती है, अतः उससे रुष्ट हो जाती है, वहाँ ईर्ष्यामान होता है। इस मान के तीन कारण होते हैं, (१) स्वप्न में अन्य प्रिया के साथ नायक को देखना, (२) सम्भोग के चिह्न देखना और (३) गोत्र-स्खलन अर्थात् नायक के मुँह से अकस्मात् किसी दूसरी रमणी का नाम सुन लेना।

उदाहरण

पलनु पीक, अंजन अधर, धरे महावर भाल।
आजु मिले सु भली करी, भले बने हौ लाल॥

—बिहारी

यहाँ नायिका ने नायक के शरीर पर सम्भोग-चिह्न देखकर—पलकों पर पीक का चिह्न, होंठ पर अंजन और भाल पर महावर आदि—अन्य के साथ रति का अनुमान किया और अपने मान की सूचना दी। इसे 'गोत्राङ्क-सम्भव' मान कहते हैं।[1]

३—प्रवास

नायिका को छोड़कर जब नायक परदेश चला जाता है, तब उस दशा का नाम प्रवास होता है। ऐसी दशा को व्यक्त करने-वाला शृङ्गार प्रवास शृङ्गार कहलाता है।

१—कविवर मतिराम ने मान के तीन प्रकार किए हैं—(१) लघुमान, (२) मध्यमान और (३) गुरुमान।

—रसराज, छं० सं० ३८५

(१) उदाहरण

एरे बीर पौन तेरो सबै ओर गौन, वारी
तो-सो और कौन, मनै ढरकौंही बानि दै।
जगत के प्रान छोटे बड़े तो समान
'घन आनँद' निधान सुखदान दुखियानि दै।
जान उबियारे गुनभारे अति मोहि प्यारे
अब ह्वै अमोही बैठे पीठि पहिचानि दै।
बिरह-बिथा की मूरि आँखिन मैं राखौं पूरि,
धूरि तिन पायँनि की हा हा नैकु आनि दै॥

(२) उदाहरण

जा थल कीन्हें बिहार अनेकन
ता थल काँकरी बैठि चुन्यौ करैं।
जा रसना सौं करीं बहु बातनि
ता रसना सौं चरित्र गुन्यौ करैं।
'आलम' जौन से कुंजनि में
करी केलि तहाँ अब सीस धुन्यौ करैं।
आँखिन में जे सदा रहते
तिनकी अब कान कहानी सुन्यौ करैं॥

४—करुण विप्रलम्भ

नायक और नायिका एक-दूसरे से सदा के लिए पृथक् तो हो जाते हैं, किन्तु फिर भी उनके मिलन की आशा बनी रहती है।

'प्रवास' का प्रथम उदाहरण 'करुण' का भी उदाहरण होगा।

उदाहरण

परकारज देह को धारे फिरौ परजन्य जथारथ ह्वै दरसौ।
निधि-नीर सुधा के समान करौ सब ही बिधि सज्जनता सरसौ।
'घन आनँद' जीवनदायक ह्वौ कछु मेरियौ पीर हिये परसौ।
कबहूँ वा बिसासी सुजान के आँगन मों अँसुवानहु लै बरसौ॥

करुण रस

स्थायी भाव—करुणा अथवा शोक।

आलम्बन—वियुक्त प्रिय-बन्धु, देश की दुर्दशा, स्वजन का मरण, दुःखी व्यक्तिविशेष आदि।

उद्दीपन—दाह-कर्म, यातनाएँ, दुःख-दर्शन आदि।

अनुभाव—भूमि-पतन, रोदन, भाग्य की निन्दा, विवर्णता, उच्छ्वास, स्तम्भ आदि।

सञ्चारी—निर्वेद, मोह, व्याधि, ग्लानि, स्मृति, विषाद, जड़ता, उन्माद आदि।

उदाहरण

तन मन जिस पर मैं वारती थी सदैव,
वह गहन वनों में जायगा हाय! दैव!!
सरसिज तन हा हा! कण्टकों में छिदेगा?
घृत-मधु-पय-पाला स्वेद ही से सिंचेगा!
खल पतित अभागे प्राण! जाते नहीं क्यों?
रह कर तन में वे हैं लजाते नहीं क्यों?

हास्य रस

स्थायी भाव—हास।

आलम्बन विभाव—मूर्ख या हँसी की कोई वस्तु।

उद्दीपन—विचित्र स्वरूप, अव्यवस्थित वेश-भूषा, टेढ़ी-मेढ़ी बातें, अंगों का विचित्र ढंग से संचालन, आदि।

अनुभाव—आँखों का कुछ-कुछ मुँद जाना, होंठों का खिल जाना, हँसना, खिलखिलाना आदि।

सञ्चारी भाव—निद्रा, आलस्य, हर्ष, चपलता आदि।

उदाहरण

विन्ध्य के बासी उदासी तपोव्रतधारी
महा बिनु नारि दुखारे।
गौतम-तीय तरी 'तुलसी'
सो कथा सुनि भे मुनि-वृन्द सुखारे।
ह्वैहैं सिला सब चन्द्रमुखी
परसे पद-मंजुल-कंज तिहारे।
कीन्हीं भली रघुनायक जू
करुना करि कानन को पग धारे॥

रौद्र रस

स्थायी भाव—क्रोध।

आलम्बन—शत्रु, देश अथवा जाति का द्रोही, दुराचारी, आदि।

उद्दीपन—शत्रु की चेष्टाएँ, उसकी बातें, अस्त्र-शस्त्र प्रहार, दुष्कर्म आदि।

अनुभाव—भ्रूभङ्ग, होंठ काटना, ताल ठोंकना, ललकारना, रोमांच, स्वेद, कठोर भाषण आदि।

सञ्चारी भाव—गर्व, चपलता, मोह, अमर्ष, उग्रता, आवेग, आदि।

उदाहरण

जौं तुम्हारि अनुसासन पावउँ। कन्दुक इव ब्रह्माण्ड उठावउँ।
काँचे घट इव डारउँ फोरी। सकउँ मेरु मूलक इव तोरी।
तव प्रताप महिमा भगवाना। का बापुरो पिनाक पुराना।
तोरौं छत्रक-दंड जिमि, तव प्रताप-बल नाथ।
जौं न करौं प्रभु-पद-सपथ, कर न धरौं धनु भाथ॥

वीर रस

स्थायी भाव—उत्साह।

आलम्बन विभाव—शत्रु, प्रतिपक्षी।

उद्दीपन विभाव—शत्रु की चेष्टाएँ, शत्रु की ललकार, मारू बाजे, रण- कलकल, वीर गीत, आदि।

अनुभाव—अङ्गों का फड़कना, आँखों का लाल होना, शस्त्र की खोज, सैन्य-संग्रह, आदि।

संचारी भाव—गर्व, असूया, मति, उग्रता, वितर्क, धैर्य, स्मृति, आदि।

विशेष—आचार्यों ने वीर रस के चार प्रकार माने हैं—

(१) धर्मवीर, (२) दानवीर, (३) दयावीर और (४) युद्धवीर।

उदाहरण

कतहुँ बिटप, भूधर उपारि पर-सेन बरक्खत।
कतहुँ बाजि सों बाजि मर्दि गजराज करक्खत।
चरन चोट, चटकन-चकोट अरि-उर-सिर बज्जत।
बिकट-कटक बिदरत बीर बारिद जिमि गज्जत॥

—कवितावली

भयानक रस

स्थायी भाव--भय।

आलम्बन विभाव—भयङ्कर दृश्य, भयङ्कर पशु (सिंह, व्याघ्रादि)।

उद्दीपन विभाव—भयप्रद दृश्य या वस्तु का दर्शन, उनकी चेष्टाएँ आदि।

अनुभाव—कम्प, विवर्णता (पीला पड़ जाना), मूर्च्छा, स्वेद, रोमाञ्च आदि।

संचारी भाव—आवेग, मोह, त्रास, दैन्य, शङ्का आदि।

सूचना--इसके आश्रय कापुरुष, बालक और स्त्री होते हैं।

(१) उदाहरण

बालधी बिसाल बिकराल ज्वाल-जाल मानौ
लंक लीलिबे को काल रसना पसारी है।
कैधौं व्योम-बीथिका भरे हैं भूरि धूमकेतु,
बीर रस बीर-तरवारि-सी उघारी है।
'तुलसी' सुरेस-चाप कैधौं दामिनि-कलाप,
कैधौं चली मेरु तें कृसानु-सरि भारी है।
देखे जातुधान-जातुधानी अकुलानी कहैं,
कानन उजार्यौ, अब नगर प्रजारी है॥

—कवितावली

(२) उदाहरण

भहरात झहरात दावानल आयो।
घेरि चहुँओर करि सोर अंदोर बन,
धरनि आकास चहुँपास छायो।
बरत बन-बाँस थरहरत कुस काँस,

जरि उड़त बहु झाँस, अति प्रबल धायो।
झपटि झपटत लपटि, फूल फूटत पटकि,
चटकि लट लटकि द्रुम फटि नवायो।
अति अगिनि झार भंभार धुंधार करि,
उचटि अंगार झंझार छायो।
बरत बन-पात भहरात झहरात,
अररात तरु महा धरनी गिरायो॥ —सूरसागर

बीभत्स रस

स्थायी भाव—जुगुप्सा या घृणा।

आलम्बन विभाव—दुर्गन्धित स्थान या वस्तु, रुधिर, चर्बी, आदि।

उद्दीपन विभाव—घृणित वस्तु में कीड़े पड़ना, मक्खियों का भिनभिनाना, आदि।

अनुभाव—थूकना, मुँह फेर लेना, आँखें मूँदना, नाक सिकोड़ना आदि।

सञ्चारी भाव—मोह, मूर्च्छा, आवेग, व्याधि आदि।

उदाहरण

ओझरी की झोरी काँधे, आँतनि की सेल्ही बाँधे,
मुण्ड को कमंडल, खपर किए कोरि कै।
जोगिनी-झुटुङ्ग झुण्ड-झुण्ड बनी तापसी[1]-सी,
तीर-तीर बैठीं वे समर-सरि खोरि कै।
सोनित सों सानि-सानि गूदा खात सतुआ-से,
प्रेत एक पियत बहोरि घोरि-घोरि कै।
'तुलसी' बेताल, भूत साथ लिए भूतनाथ,
हेरि-हेरि हँसत हैं हाथ-हाथ जोरि कै॥
—कवितावली

अद्भुत रस

स्थायी भाव—आश्चर्य अथवा विस्मय।

आलम्बन विभाव—अलौकिक वस्तु, लोकोत्तर कर्म या दृश्य आदि।

उद्दीपन विभाव—गुण-श्रवण, अवलोकन आदि।

अनुभाव—स्तम्भ, स्वेद, रोमाञ्च, गद्गद वाणी, नेत्रों का विकास आदि।

सञ्चारी भाव—वितर्क, आवेग, स्तम्भ, चापल्य, औत्सुक्य, भ्रान्ति आदि।

उदाहरण

लीन्हों उखारि पहार बिसाल
चल्यो तेहि काल बिलम्ब न लायौ।
मारुत-नन्दन मारुत को, मन को,
खगराज को बेग लजायौ।
तोखी तुरा कहतो 'तुलसी' पै
हिये उपमा को समाउ न आयौ।
मानो प्रतच्छ परब्बत को नभ
लीक लसी कपि यों धुकि धायो॥—कवितावली

शान्त रस

स्थायी भाव—निर्वेद वा शम।

आलम्बन विभाव—संसार की निस्सारता और नश्वरता का ज्ञान, परमात्मानुभूति।

उद्दीपन विभाव—सत्संग, सद्गुरु-प्राप्ति, शान्त आश्रम आदि।

अनुभाव—रोमाञ्च, पुलक, अश्रु आदि।

सञ्चारी—धृति, मति, हर्ष, स्मृति, जीव-दया आदि।

उदाहरण

चलि फिरि सकैं न, परे हैं फेर माँहि तऊ
बार-बार फेरे पाप-पथ तें फिरे नहीं।
घरी-घरी घर के घनेरे दुख घेरे रहैं
तबहुँ रुचिर रुचि घेर ते घिरे नहीं।
'हरिऔध' आयु-भोग-भाजन भरत जात
चित्त-भीरुता ते तऊ उभरि भिरे नहीं।
गई आँखि तऊ आँख होति आँख-वारन की
गिरे दाँत तऊ दाँत विष के गिरे नहीं॥

वात्सल्य रस

स्थायी भाव—वत्सलता या शिशुपरक रति।

आलम्बन—शिशु।

उद्दीपन—बालक की चेष्टाएँ या बाल-कर्म, भोलापन, तुतली बोली आदि।

अनुभाव—हँसना, रोमाञ्च, पुलक आदि।

सञ्चारी भाव—चंचलता, मोह, स्मृति, विबोध, गर्व आदि।

(१) उदाहरण

मैया, मैं नहिं माखन खायौ!
भोर भये गैयन के पीछे मधुबन मोहिं पठायौ॥

(२) उदाहरण

मैया, कबहिं बढ़ैगी चोटी?
किती बार मोहिं दूध पियत भई यह अजहूँ है छोटी॥
तू जो कहति बल की बेनी ज्यों ह्वै है लांबी मोटी।
काढ़त गुहत नहावत ओंछत नागिन सी भुइं-लोटी॥
कांचो दूध पियावति पचि-पचि देति न माखन रोटी।
'सूरदास' चिरजिवौ दोउ भैया हरि-हलधर की जोटी॥

(३) उदाहरण

मैया, मोहि दाऊ बहुत खिझायौ !
मोसों कहत मोल को लीन्हों, तोहि जसुमति कब जायो ?
गोरे नन्द जसोदा गोरी तुम कत स्याम सरीर।
चुटकी दै-दै हँसत ग्वाल सब सिखै देत बलबीर॥
कहा कहौं एहि रिस के मारे खेलन हौं नहिं जात।
पुनि-पुनि कहत कौन है माता, को है तेरो तात ?
सुनहु कान्ह बलभद्र चवाई, जनमत ही को धूत।
'सूर' स्याम मोहि गोधन की सौं, हौं माता तू पूत॥

रसों में रसराज कौन-सा रस है

रसों में कौन-सा रस श्रेष्ठ है, इस विषय पर प्राचीन आचार्य एकमत कभी नहीं हुए। किसी ने एक को श्रेष्ठता दी तो किसी ने दूसरे को और किसी ने तीसरे को। आचार्य धनञ्जय ने रसों का सूक्ष्म मनोवैज्ञानिक विवेचन करते हुए कहा है कि काव्यार्थ के बोध से आत्मानन्द द्वारा उत्पन्न जो स्वाद होता है, वह चार प्रकार का होता है, (१) विकास, (२) विस्तार, (३) क्षोभ और (४) विक्षेप। अतः मौलिक रस चार ही ठहरते हैं, (१) शृङ्गार—इसमें चित्त का विकास होता है, (२) वीर—यह चित्त का विस्तार करता है, (३) बीभत्स—यह मन के क्षोभ-रूप में प्रकट होता है और (४) रौद्र—यह मन के विक्षेप रूप में आता है। मूल रस ये चार ही हैं। इन्हीं से क्रमशः (१) हास्य, (२) अद्भुत, (३) भयानक और (४) करुण रसों की उत्पत्ति होती है।[1] शम-

१—स्वादः काव्यार्थसम्भेदादात्मानन्दसमुद्भवः।
विकाशविस्तरक्षोभविक्षेपैः स चतुर्विधः॥

प्रधान शान्त रस मुदिता, मैत्री, करुणा और उपेक्षा से सम्बन्ध रखता है, जहाँ दुःख-सुख, राग-द्वेष आदि मनःसंवेगों का सर्वथा प्रशमन हो जाता है; अतः वह अनिर्वचनीय है। कतिपय महान् आचार्यों ने शान्त रस को ही रसराज या श्रेष्ठ रस कहा है।

शान्त रस का रसराजत्व

काश्मीर-नरेश महाराज जयापीड की राज-सभा के सभापति प्रकाण्ड आलंकारिक आचार्य भट्टोद्भट ऐसे प्रथम आचार्य हैं जिन्होंने शान्त रस की सत्ता स्वीकार की है। उनके 'काव्यालंकारसार-संग्रह' ग्रन्थ में शान्त को भी रसों में सादर स्थान मिला है। उनके अनन्तर ध्वनिकार आचार्य आनन्दवर्धन ने शान्त रस को रसराज कहा है। 'ध्वन्यालोक' में कवि को किसी एक रस के प्रति विशेष रूप से अवधानवान् होने का उपदेश करते हुए चतुर्थ उद्योत की पंचमी कारिका की वृत्ति में ध्वनिकार ने महाभारत में शान्त रस को मुख्य रस माना है[1]

शृंगारवीरबीभत्सरौद्रेषु मनसःक्रमात्।
हास्याद्भुतभयोत्कर्षकरुणानां त एव हि॥
अतस्तज्जन्यता तेषामत एवावधारणम्।
शमप्रकर्षो निर्वाच्यो मुदितादेस्तदात्मता॥

—दशरूपक, ४।४३,४४,४५

१—महाभारतेऽपि शास्त्रकाव्यरूपच्छायान्वयिनि वृष्णिपाण्डवविरसावसान-वैमनस्यदायिनी समाप्तिमुपनिबध्नता महामुनिना वैराग्यजननतात्पर्य-प्राधान्येन स्वप्रबन्धस्य दर्शयता मोक्षलक्षणः पुरुषार्थः शान्तो रसश्च मुख्यतया विवक्षाविषयत्वेन सूचितः। एतच्चांशेन विवृतमेवान्यैर्व्याख्याविधायिभिः। × × × तदेवमनुक्रमणी-

और यह भी सूचित किया है कि महामुनि व्यास देव को भी काव्य की परिणति उसी रस में अभीष्ट थी। इसके प्रमाण में उन्होंने महाभारत का यह श्लोक उद्घृत किया है–

यथा यथा विपर्येति लोकतन्त्रमसारवत्।
तथा तथा विरागोऽत्र जायते नात्र संशयः॥

अर्थात् जैसे-जैसे इस लोक-तन्त्र का मिथ्यात्व प्रकट होता जाता है वैसे-वैसे निःसंन्देह इसके प्रति विराग होता जाता है। इसी प्रकार यह स्पष्ट कर दिया है कि जिस प्रकार अन्त में तीनों पुरुषार्थ मोक्ष में पर्यवसित हो जाते हैं उसी प्रकार सभी रस अन्त में शान्त रस में जाकर तदाकार हो जाते हैं। धनञ्जय और धनिक के शान्त रस-विरोधी मत का खण्डन तो साहित्य-दर्पणकार ने भी बड़े युक्तियुक्त ढंग से कर दिया है।

ध्वनिकार के पश्चात् नाट्यशास्त्र और ध्वन्यालोक के अप्रतिम भाष्यकार अभिनवगुप्त ने भी उन्हीं के मत का प्रबल युक्तियों से समर्थन किया है।

करुण रस की श्रेष्ठता

आदिकवि का रामायण का मुख्य रस करुण ही है, जैसा कि उन्होंने स्वयं कहा है––

'शोकः श्लोकत्वमागतः।'

अर्थात् शोक ही श्लोक बन गया। इसका समर्थन ध्वनिकार ने भी किया है। श्रेष्ठ नाटककार भवभूति भी, जिन्हें

निर्दिष्टेन वाक्येन भगवद्व्यतिरेकिणः सर्वस्यानित्यतां प्रकाशयता मोक्षलक्षण एवैकः परः पुरुषार्थः शास्त्रनये काव्यनये च तृष्णाक्षयसुखपरिपोषलक्षणः शान्तो रसो महाभारतस्याङ्गित्वेन विवक्षित इति सुप्रतिपादितम्॥ ध्वन्यालोक, उद्योत ४।५ की वृत्ति॥

महाकवि राजशेखर आदिकवि का ही अवतार मानते हैं[1], करुण रस को रसराज मानते हैं। इतना ही नहीं, वे तो यहाँ तक कहते हैं कि अन्य सभी रस करुण के ही विवर्त्त हैं—

एको रसः करुण एव निमित्तभेदा—
द्विभिन्नः पृथक्पृथगिव श्रयते विवर्त्तान्।
आवर्त्तबुद्बुदतरङ्गमयान्विकारा—
नम्भो यथा सलिलमेव हि तत्समस्तम्॥

—उत्तर-रामचरित

अद्भुत रस की श्रेष्ठता

साहित्य-दर्पणकार विश्वनाथ के पितामह नारायण पण्डित अद्भुत रस को सभी रसों का मूल मानते थे। विश्वनाथ के अनुसार उनका अभिमत यह है—

रसे सारश्चमत्कारः सर्वत्राप्यनुभूयते।
तच्चमत्कारसारत्वे सर्वत्राप्यद्भुतो रसः॥

अर्थात् सभी रसों के मूल में चमत्कार होता है, और वह चमत्कार अद्भुत रस का ही गुण है, अतः अद्भुत रस सर्व-व्यापी है।

शान्त रस की सर्वातिशयता

आचार्य अभिनव गुप्त शान्त रस को ही सबका मूल घोषित करते हैं—

१—बभूव वल्मीकभवः कविः पुरा, ततः प्रपेदे भुवि भर्तृमेष्ठताम्।
स्थितः पुनर्यो भवभूतिरेखया स वर्तते सम्प्रति राजशेखरः॥

—सुभाषित-रत्न-भाण्डागार, ३

स्वं स्वं निमित्तमासाद्य शान्ताद्भावः प्रवर्तते ।
पुनर्निमित्तापाये च शान्त एवोपचीयते ॥

शृंगार रस की मौलिकता

भोजराज ने शृङ्गार रस को ही मूल रस माना है ।[1] इसमें सुखात्मक (संयोग) और दुःखात्मक (विप्रलम्भ) दोनों पक्षों का समावेश रहता है, अतः यह बहुत-से आचार्यों की दृष्टि में रसराज ठहरता है ।

रस-दोष

१. स्वशब्दवाच्यत्व—जिस रस की कविता हो उसमें उस रस का अथवा उसके स्थायी भाव का नाम नहीं आना चाहिए । यदि रस या स्थायी भाव का नाम आएगा तो वहाँ स्वशब्दवाच्यत्व दोष होगा, क्योंकि रस या स्थायी भाव कभी वाच्य नहीं हुआ करते, वे सर्वदा व्यंग्य ही होते हैं । कविता पढ़ने से ही उसकी उद्दीप्ति पाठक के हृदय में होनी चाहिए ।

उदाहरण

हँसि-हँसि भाजैं देखि दूलह दिगम्बर को
कामिनी जे आवैं हिमाचल के उछाह में ।
सीस पर गंगा हँसैं भुजनि भुजङ्गा हँसैं
हास ही कौ दंगा भयो नंगा के विवाह में ॥—पद्माकर

१—शृङ्गार-वीर-करुणाद्भुत-रौद्र-हास्य—
बीभत्स-वत्सल-भयानक-शान्तनाम्नः ।
आम्नासिषुर्दशरसान् सुधियो वयन्तु—
शृङ्गारमेवरसनाद्रसमामनामः ॥—शृङ्गारप्रकाश

इसमें हास्य रस नहीं है, उलटे हँसि-हँसि की पुनरावृत्ति होने के कारण स्वशब्द-वाच्यत्व दोष भी आ गया है।

२. रसाभास—किसी रस के प्रकरण में उसका विरोधी रस नहीं आना चाहिए, अन्यथा वहाँ रसाभास नामक दोष होगा। जैसे, शृंगार के वर्णन में करुण-रस नहीं आना चाहिए।

प्रमुख रस और उनके सहायक रस

शृंगार रस	हास्य और अद्भुत रस
वीर रस	रौद्र और भयानक रस
शांत रस	बीभत्स और करुणरस

ऊपर दी हुई तालिका के द्वारा यह जान लेना चाहिए कि किस रस का कौन रस पोषक है और कौन विरोधी। इसके ज्ञान से कविता में रसाभास या भावाभास की उत्पत्ति नहीं हो सकेगी। इसी प्रकार पाठकों को करुण रस और करुण विप्रलम्भ का अन्तर भलीभाँति समझ लेना चाहिए।

अङ्क—३

गुण

जिस प्रकार शूरता, उदारता आदि आत्मा के धर्म होते हैं उसी प्रकार रस के अङ्गी जो धर्म होते हैं, उन्हें गुण कहते हैं। इन गुणों द्वारा काव्य के आत्मा-स्वरूप रस का उत्कर्ष होता है और काव्य की शोभा बहुत बढ़ जाती है।

गुण तीन होते हैं—

(१) माधुर्य, (२) ओज और (३) प्रसाद।

१. माधुर्य—चित्त को प्रसन्न वा आह्लादित कर देनेवाले गुण को माधुर्य कहते हैं। शृङ्गार रस में यही गुण चित्त को द्रवीभूत कर देता है। विप्रलम्भ शृङ्गार, शान्त और करुण रसों में इस गुण का विशेष उत्कर्ष देखने को मिलता है।

माधुर्य गुण को प्रकट करनेवाले अक्षर और पद

इस गुण में ट, ठ, ड, और ढ वर्णों को छोड़ कर 'क' से 'म' तक के वर्ण, अपने वर्ग के अन्तिम वर्ण से युक्त वर्ण, ह्रस्वस्वर युक्त 'र' और ण, असमस्त पद या छोटे-छोटे समस्त-पद प्रयुक्त होते हैं।

उदाहरण

विस्तृत दिगन्त की छाया ले,
खगकुल के कलरव की कम्पन,
चल तरल लहरियों की कल-कल,
मधु भ्रमर-पुंज की शुचि गुंजन।—मेरे 'शार्दूल' से

इस छन्द में समस्त पदों का अभाव है, कर्णकटु वर्ण भी नहीं आए हैं। श्रुति-मधुर वर्ण पूरे छन्द में छाए हुए हैं। अतः इस काव्य में माधुर्य गुण है।

२. ओज—चित्त को उत्तेजित करनेवाले गुण को ओज कहते हैं। यह वीर रस में रहता है। वीर से अधिक बीभत्स में और बीभत्स से अधिक रौद्र रस में इसकी स्थिति देखी जाती है।

ओज गुण के प्रकाशक साधन

१—वर्गों के प्रथम वर्ण अपने वर्ग के द्वितीय वर्ण से तथा तृतीय वर्ण चतुर्थ वर्ण से मिलकर इस गुण को प्रकट करते हैं।

२—रेफ अर्थात् रकार किसी वर्ण के ऊपर या नीचे अथवा दोनों ओर एक साथ मिले हुए हों।

३—ट, ठ, ड और ढ मुक्त अथवा संयुक्त रूप में हों।

४—तालव्य श और मूर्धन्य ष का प्रयोग हो।

५—लम्बे समासवाली रचना हो।

६—औद्धत्यपूर्ण पद-योजना हो।

उदाहरण

धरा-धरेन्द्र-नन्दिनी-प्रचण्ड-तुंग-धार-सी,
सुरेन्द्र-हस्त-शायिनी तड़ित्तरंग हार-सी।
स्वदेश-प्रेम में पली मनोमयी पुकार-सी,
प्रवीर छत्रसाल की चमू चली सँहार-सी।

मेरे 'छत्रसाल महाकाव्य' से।

यहाँ समस्त पद और मीलित तथा कर्णकटु वर्णों के प्रयोग ओज गुण के अभिव्यञ्जक हैं।

३. प्रसाद—जिस प्रकार सूखी लकड़ी में अग्नि शीघ्र ही फैल जाती है उसी प्रकार यह गुण सहृदय जनों के चित्त में पढ़ते या सुनते ही व्याप्त हो जाता है। यह गुण सभी

रसों और भावों में निवास करता है। यह एकदेशीय नहीं होता।[1]

उदाहरण

युग की वाणी आज निरन्तर
हमको प्रिये! पुकार रही है,
विष का घूँट गले के नीचे
दुनियाँ आज उतार रही है;

जग को छोड़ तुम्हारे अधरामृत का कैसे पान करूँ मैं!
कैसे प्रेम तुम्हारा लेकर अपना प्रेम प्रदान करूँ मैं॥

—मेरी 'गीत-माला' से

विशेष—रीति सम्प्रदाय के प्रवर्त्तक आचार्य वामन ने गुणों की संख्या दस बताई है। वे हैं—श्लेष, प्रसाद, माधुर्य, सुकुमारता, अर्थव्यक्ति, उदारता, समता, ओज, कान्ति और समाधि। आचार्य मम्मट ने श्लेष, समाधि, औदार्य और प्रसाद नामक शब्दगुणों को 'ओज' के ही अन्तर्गत ले लिया है। अर्थव्यक्ति को 'प्रसाद' से अभिन्न माना है। कान्ति और सुकुमारता को 'ग्राम्यत्व' और 'दुःश्रवत्व' दोषों का परिहार माना है। 'समता' को प्राचीनों ने दोष-रूप में ग्रहण किया है। गुण रूप में यह उन्हीं गुणों में अन्तर्भूत हो जाता है। शेष गुण दोष के परिहार-स्वरूप ही माने गए हैं, पृथक् गुणरूप में नहीं। इस प्रकार उपयुक्त तीन ही गुण माने गए हैं, तदतिरिक्त अन्य नहीं।

१—ध्वनिकार का कथन है—

समर्पकत्वं काव्यस्य यत्तु सर्वरसान् प्रति।
स प्रसादो गुणो ज्ञेयः सर्वसाधारणक्रियः॥

—ध्वन्यालोक, ३।१०॥

अङ्ग—४

रीति

अङ्गों की रचना की भाँति पदों की वह संघटना रीति कहलाती है, जो रस, भाव आदि की उपकारक होती है।

अलङ्कार-शास्त्र में रीति का महत्त्व प्रतिपादित करने वाले आचार्य वामन हैं। इन्होंने ही सर्वप्रथम रीति के भिन्न-भिन्न प्रकारों का स्वरूप निर्दिष्ट किया और इसे ही काव्य की आत्मा स्वीकार किया।[1]

रीति के चार प्रकार होते हैं—

(१) वैदर्भी, (२) गौड़ी, (३) पाञ्चाली और (४) लाटी।

वैदर्भी—जिसमें माधुर्य-व्यंजक वर्णों और समासहीन अथवा छोटे-छोटे समस्त पदों की योजना हो, उसे वैदर्भी रीति कहते हैं।

उदाहरण

पतली काया उन्मुक्त और
चिन्तन में खोया मन होगा,
अन्तर में हो तूफान किन्तु
अधरों पर मधु-सिञ्चन होगा।

१—रीतिरात्मा काव्यस्य।—काव्यालङ्कार-सूत्र

होगा ललाट पर चन्द्र और
भौहों पर इन्द्रधनुष होगा,
आँखों में होगा आसमान
जिसका निमेष अकलुष होगा।

—मेरे 'विहङ्ग-सन्देश' काव्य से

आचार्य रुद्रट का मत

रुद्रट का कथन है कि समासहीन अथवा एकाध छोटे समास-युक्त पदों वाली, दसों गुणों से युक्त, च वर्ग के अक्षरों की बहुलता रखने वाली और अल्पप्राण वर्णों वाली रचना में वैदर्भी रीति होती है।

इस रीति की प्रशंसा आचार्य भामह और दण्डी से भी पहले से होती आई है। महाकवि श्रीहर्ष ने अपने 'नैषधीय चरित' में तथा विल्हण ने अपने 'विक्रमाङ्कदेव-चरित' में क्रमशः 'धन्यासि वैदर्भि गुणैरुदारैः···' और 'अनभ्रवृष्टिः श्रवणामृतस्य सरस्वती-विभ्रमजन्मभूमिः' कह कर इस रीति की प्रशंसा की है। कवि-कुल-गुरु कालिदास की रचना में इस रीति की प्रधानता है।

गौड़ी—जिसमें ओज गुण के प्रकाशक वर्णों, लम्बे समास-युक्त पदों का प्राचुर्य और बन्ध का विशेष आडम्बर हो, ऐसी उद्भट रचना को गौड़ी रीति कहते हैं। इसमें महाप्राण वर्णों की प्रधानता होती है।

उदाहरण

रवि हुआ अस्त, ज्योति के पत्र पर लिखा अमर
रह गया राम-रावण का अपराजेय समर

आज का; तीक्ष्णशर विधृत-क्षिप्र-कर वेग-प्रखर
शत शैल-संवरणशील नील-नभ-गर्जित-स्वर
प्रतिपल परिवर्तित व्यूह-भेद-कौशल-समूह
राक्षस-विरुद्ध-प्रत्यूह क्रुद्ध कपि-विषम हूह
विच्छुरित वह्नि-राजीव-नयन-हत-लक्ष्य-बाण
लोहित-लोचन रावण-मद-मोचन-महीयान।

—'राम की शक्तिपूजा'

सूचना—संस्कृत कवियों में भट्टनारायण, भवभूति, बाणभट्ट आदि महाकवियों की रचनाओं में गौड़ी रीति का बाहुल्य है। हिन्दी के महाकवि 'निराला', 'प्रवासी' आदि की वीर तथा रौद्र रस-परक कविताओं में यह रीति पाई जाती है।

पाञ्चाली—वह रीति है जिसमें माधुर्य और ओज के अभिव्यंजक अक्षरों को छोड़कर प्रसाद गुण के व्यञ्जक शब्दों का प्रयोग हो। इसमें पाँच-छह पदों से अधिक का समास नहीं होता।

(१) उदाहरण

नारी ! तुम केवल श्रद्धा हो
विश्वास-रजत - नग-पग-तल में,
पीयूष - स्रोत - सी बहा करो
जीवन के सुन्दर समतल में।

—कामायनी (लज्जा)

विमर्श—संस्कृत काव्यों में पाँच-छह पदों तक का समास कहा गया है, हिन्दी में तीन-चार पदों से अधिक का समास पांचाली रीति में नहीं होना चाहिए।

(२) उदाहरण

जीवन प्रात-समीरण-सा लघु
विचरण निरत करो।
तरु-तोरण-तृण-तृण की कविता
छवि मधु - सुरभि भरो ॥

× × ×

मेरे गगन-मगन मन में, अयि
किरणमयी, विचरो—
तरु-तोरण-तृण-तृण की कविता
छवि मधु - सुरभि भरो ॥

—'परिमल' (कविता)

लाटी—जहाँ वैदर्भी और पाञ्चाली रीतियाँ परस्पर घुली-मिली रहती हैं, वहाँ लाटी या लाटीया रीति होती है।

उदाहरण

चिर मिलित प्रकृति से पुलकित
वह चेतन - पुरुष - पुरातन ;
निज - शक्ति - तरंगायित था
आनन्द - अम्बुनिधि शोभन।

—कामायनी (आनन्द)

विमर्श—वैदर्भी और गौड़ी रीतियाँ प्राचीन काल से, भामह से भी पहले से, काव्यालोचन की कसौटी मानी जाती रही हैं। आचार्य वामन ने उनके अतिरिक्त 'पाञ्चाली' नाम की नूतन रीति का प्रथम प्रवर्तन किया। ग्यारहवीं शताब्दी में होने वाले आचार्य रुद्रट ने 'लाटीया' या 'लाटी' नाम्नी नई रीति की

उद्भावना की। इस प्रकार ये चार रीतियाँ काव्य-परीक्षण की कसौटी मानी गईं। वामन ने वैदर्भी रीति की व्याख्या न करके उसका स्वरूप-निर्देश करते हुए केवल यही कहा—

'समग्रगुणोपेता वैदर्भी।'

अर्थात् वैदर्भी रीति में सभी गुणों का समावेश होता है। वामन के पश्चात् होने वाले, मम्मट को छोड़कर, सभी आचार्यों ने रीतियों पर पूरा-पूरा विचार किया है और इसे अलङ्कार-शास्त्र का प्रमुख अङ्ग माना है।

अङ्क—५

अलङ्कार

ऐतिहासिक विकास

अलङ्कार का इतिहास बहुत प्राचीन है। हमारा सबसे प्राचीन वाङ्मय वेद सभी विद्याओं का उद्गम है। उसमें उपमा आदि अलङ्कारों का व्यवहार मिलता है।[1] निरुक्त में तो उपमा का एक प्रकरण ही है 'इसकी तरह, जैसे यह।' गार्ग्य का कथन है कि जहाँ 'असदृश को उसके समान है' यह कहा जाय वहाँ उपमा होती है। कम गुणवाली वस्तु की उपमा अधिक गुणवाली वस्तु से दी जाती है।[2]...आगे चल कर यास्क ऋषि कहते हैं—

'अग्निमन्थनौ बाहू तत्कराभ्यामुपमिमीते'—निरु०, ३।१४

भरत मुनि ने नाट्यशास्त्र में चार अलङ्कारों—उपमा, रूपक दीपक और यमक का वर्णन किया और बताया कि चतुर्भेदात्मक (आहार्य, आङ्गिक, वाचिक और सात्विक) अभिनय के वाचिक नामक प्रकार में इन अलंकारों का प्रयोग विशद रूप

१—उत त्वः पश्यन् न ददर्श वाचमुत त्वः शृण्वन् न शृणोत्येनाम्।
उतो त्वस्मै तन्वं विसस्रे जायेव पत्य उशती सुवासाः॥
—ऋग्वेद, १०।७१।४

२—अथात उपमाः॥ यदेतत्तत्सदृशमिति गार्ग्यः।
अथापि कनीयसा ज्यायांसम्।

में होना चाहिए, इनसे सौन्दर्य-वृद्धि होती है।[1] अलंकारों के प्रयोग के साथ ही उन्होंने वाचिक अभिनय के लिए यह भी कहा है कि काव्य-बन्ध छत्तीस 'लक्षणों' से युक्त होना चाहिए।[2] उन्होंने उन लक्षणो को गिनाया है। ध्यानपूर्वक देखने से इन 'लक्षणो' में परवर्ती काल में विकसित बहुविध अलंकारो का मूल दिखाई पड़ता है। दशरूपककार धनंजय और उनके टीकाकार धनिक ने स्वीकार किया है कि लक्षण अलंकारों में पर्यवसित हो गए हैं—

षट्त्रिंशद्भूषणादीनि सामादीन्येकविंशतिः।
लक्ष्मसन्ध्यन्तराख्यानि सालङ्कारेषु तेषु च॥

—द० रू०, ४।८४

टीका करते हुए धनिक कहते हैं—

'विभूषणं चाक्षरसंहतिश्च शोभाभिमानौ गुणकीर्तनञ्च इत्येवमादीनि षट्त्रिंशत् काव्यलक्षणानि। 'सामभेदः प्रधानञ्च' इत्येवमादीनि सन्ध्यन्तराण्येकविंशतिरुपमादिष्वलङ्कारेषु हर्षोत्साहादिष्वन्तर्भावान्न पृथगुक्तानि।"

—वही, टीका।

दुर्गाचार्य ने अपनी 'ऋज्वर्थ' नाम्नी व्याख्या में कहा है—

"अथापि 'क्वचित्कनीयसा' गुणेन 'ज्यायांसम्' अपि सन्तमुपमिमीते। तदेतच्छन्दस्येव द्रष्टव्यम्।"

—निरुक्त, ३।१३

१—यदा सर्वे समुदिता एकीभूता भवन्ति हि।
अलङ्कारः स तु तदा मन्तव्यो नाटकाश्रयः॥

—नाट्यशास्त्र, २७।६२

२—काव्यबन्धास्तु कर्त्तव्या षट्त्रिंशल्लक्षणान्विताः।—वही

इससे स्पष्ट हो जाता है कि वे 'लक्षण' जिन्हें भरत मुनि ने अलंकारों से पृथक् रखा था, बाद के अलंकारिकों ने उन्हें अलङ्कारों में समेट लिया। आचार्य अभिनवगुप्त ने नाट्यशास्त्र की 'अभिनव भारती' नाटक टीका में अपने साहित्य-गुरु भट्टतौत के मत का उल्लेख करते हुए कहा है—

'उपाध्यायमतन्तु—लक्षणबलादलङ्काराणां वैचित्र्यमागच्छति। तथाहि गुणानुवादनाम्ना लक्षणेन योगात् प्रशंसोपमा। अतिशयनाम्नाऽतिशयोक्तिः। मनोरथाख्येनाप्रस्तुतप्रशंसा। मिथ्याध्यवसायेनापह्नुतिः। सिद्धया तुल्ययोगितेत्येवमुत्प्रेक्ष्यम्।'

अर्थात् 'भट्टतौत का मत है कि लक्षण के द्वारा अलंकारों में विचित्रता आ जाती है। और है भी, गुणानुवाद नामक लक्षण से प्रशंसोपमा, अतिशय से अतिशयोक्ति, मनोरथ से अप्रस्तुतप्रशंसा, मिथ्याध्यवसाय से अपह्नुति, सिद्धा से तुल्ययोगिता इत्यादि इसी प्रकार समझ लेना चाहिए।' इस प्रकार भरत मुनि के नाटकगत 'काव्य-लक्षण' श्रव्यकाव्य के शास्त्रकारों के यहाँ आकर 'काव्यालंकार' हो गए। इस बात को और स्पष्ट करने के लिए लक्षण-विषयक भरत के मत के समक्ष ध्वनिकार का अलंकार-विषयक मत रखा जा सकता है।[२]

१—षट्त्रिंशदेतानि तु लक्षणानि प्रोक्तानि वै भूषणसम्मितानि।
काव्येषु भावार्थगतानि तज्ज्ञैः सम्यक् प्रयोज्यानि यथारसं तु॥

—ना० शा०, १६।४२

२—रसाक्षिप्ततया यस्य बन्धः शक्यक्रियो भवेत्।
अपृथग्यत्ननिर्वर्त्यः सोऽलङ्कारो ध्वनौ मतः॥
विवक्षा तत्परत्वेन नाङ्गित्वेन कथञ्चन।
काले च ग्रहणत्यागौ नातिनिर्वहणैषिता॥

भरत मुनि के पश्चात् जिस आचार्य की कृति उपलब्ध हो हो चुकी है, वे हैं भामह। इनके ग्रन्थ का नाम है 'काव्यालङ्कार'। किन्तु यह नहीं समझना चाहिए कि भरत के समय (ई० पू० द्वितीय शताब्दी) से भामह के समय (छठी शताब्दी ई०) तक काव्य-शास्त्र की चर्चा हुई ही नहीं। वैदिक काल से ही साहित्य-चर्चा बराबर ही होती आई। भरत मुनि के पूर्व उपनिषदों में उपमा, रूपक आदि के सुन्दर-से सुन्दर उदाहरण मिलते हैं। महर्षि पाणिनि की अष्टाध्यायी में उपमा का अनेक बार प्रयोग देखने को मिलता है—

तुल्यार्थैरतुलोपमाभ्यां तृतीयान्यतरस्याम् ॥

—अष्टाध्यायी, २।३।७२

उपमानानि सामान्यवचनैः ॥—वही, २।१।५५

उपमितं व्याघ्रादिभिः सामान्याप्रयोगे ॥—वही, २।१।५६

इन सूत्रों में उपमा के अङ्गों का भी स्पष्ट उल्लेख है। अन्य शास्त्रों में भी पद्य का प्रयोग-बाहुल्य देखा जाता है, अतः उनमें भी विद्वानों ने अलङ्कारों की योजना की है। प्रसिद्ध कुशाण-सम्राट् कनिष्क के समय (लगभग ७८ ई० पू०) आयुर्वेद के प्रसिद्ध आचार्य चरक हुए, उन्होंने अपने ग्रन्थ में आलङ्कारिक भाषा अपनाई है।

'पथ्याशी व्यायामी स्त्रिषु विजितात्मा नरो न रोगी स्यात्।'—चरक

निर्व्यूढावपि चांगत्वे यत्नेन प्रत्यवेक्षणम्।
रूपकादिरलङ्कारवर्गस्याङ्गत्वसाधनम् ॥

—ध्वन्यालोक, २।१६,१८,१९

'यमक' नामक शब्दालङ्कार पर आचार्य की दृष्टि टिकी है। लाटानुप्रास का सुन्दर उदाहरण आयुर्वेदाचार्य लोलिम्बराज के ग्रन्थ में मिलता है—

पथ्ये सति गदार्त्तस्य किमौषधनिषेवणैः।
पथ्येऽसति गदार्त्तस्य किमौषधनिषेवणैः॥

इस प्रकार हम देखते हैं कि अलङ्कारों की चर्चा तो विद्वन्मण्डली में बराबर चलती रही है। भरत मुनि और भामह के बीच भी शास्त्रकार हुए अवश्य, यद्यपि उस बीच की कोई कृति अद्यावधि उपलब्ध नहीं हो सकी है। भामह ने ही अपने ग्रन्थ में अपने पूर्ववर्ती प्रख्यात आचार्य मेधावी का उल्लेख करते हुए उनके एक ग्रन्थ का निर्देश किया है, यद्यपि उस ग्रन्थ का नाम नहीं लिया है। उन्होंने बताया है कि मेधावी ने सात उपमा-दोष माने हैं।[1] रुद्रट के 'काव्यालङ्कार' के टीकाकार नमिसाधु ने भी उपमा-दोष के ही प्रसङ्ग में उन्हें स्मरण किया है।[2] वे उत्प्रेक्षा को 'संख्यान' नामक अलङ्कार मानते हैं।[3] राजशेखर ने भी

१—हीनता सम्मदो लिङ्गवचोभेदो विपर्ययः।
उपमानाधिकत्वञ्च तेनासदृशताऽपि च॥
त एव उपमा दोषाः सप्त मेधाविनोदिता।
सोदाहरणलक्ष्माणो वर्ण्यन्तेऽत्र च ते पृथक्॥
—काव्यालङ्कार, २।३९,४०

२—अत्र च स्वरूपोपादाने सत्यपि चत्वार इति ग्रहणान्मेधाविप्रभृतिभिरुक्तं यथा लिंगवचनभेदौ हीनताधिक्यमसम्भवोविपर्ययोऽसादृश्यमिति सप्तोपमादोषाः।—काव्यालङ्कार—टीका, ११।२४

३—यथासंख्यमथोत्प्रेक्षा अलङ्कारद्वयं विदुः।
संख्यानमिति मेधाविनोत्प्रेक्षाऽभिहिता क्वचित्॥—काव्या०, २।८८

मेधावी को जन्मान्ध कहा है।[1] इस प्रकार स्पष्ट है कि भामह के पूर्व मेधावी एक महान् आचार्य हो चुके हैं, जिनकी कृति की उनके बाद काफी दिनों तक विशेष चर्चा रही। किन्तु उनके विषय में विशेष कुछ नहीं कहा जा सकता। इतना अवश्य अनुमित होता है कि वे अलङ्कार-सम्प्रदाय के आचार्य थे।

भामह

आचार्य भामह का समय छठी शताब्दी का पूर्वार्द्ध माना जाता है। इनका 'काव्यालङ्कार' ग्रन्थ थोड़े ही दिनों पूर्व उपलब्ध हुआ है। इन्होंने कुल ३९ अलङ्कार गिनाए हैं। इन्होंने एक सर्वाधिक महत्त्व की बात कही है, कि वक्रोक्ति ही सभी अलंकारों का प्राण है--

'यह वक्रोक्ति सर्वत्र होती है। अर्थ में चमत्कार इसी से आता है। इसके बिना कोई अलङ्कार हो ही नहीं सकता। अतः इसके लिए सभी कवियों को यत्न करना चाहिए।'[2] इनकी वक्रोक्ति की मान्यता वस्तुतः काव्य-मर्म का उद्घाटन करने वाली है और इनके गम्भीर चिन्तन का इससे पता चलता है। आचार्य कुन्तक के 'वक्रोक्तिजीवित' का बीज यहीं मिलता है।

दण्डी

इनका समय सातवीं शताब्दी का मध्य भाग है। इनका 'काव्यादर्श' विद्वत्समुदाय में प्राचीन काल से आदृत रहा है।

१—प्रतिभावतः पुनरपश्यतोऽपि प्रत्यक्ष इव। यतो मेधाविरुद्रकुमार-दासादयो जात्यन्धाः कवयः श्रूयन्ते।—काव्यमीमांसा, ४

२—सैषा सर्वत्र वक्रोक्तिरनयाऽर्थो विभाव्यते।
यत्नोऽस्यां कविना कार्य्यः कोऽलंकारोऽनया विना॥
—काव्या०, २।८५

ये अपने समय के महान् कवि भी थे। इन्होंने कुल ३५ अलंकार माने हैं। रसों को ये भी मानते हैं, किन्तु अलंकारों से पृथक् नहीं; प्रेय, ऊर्जस्वि, रसवत् आदि अलंकारों में इन्होंने रसों को समेटने का यत्न किया है। इन्होंने यह भी कह दिया है कि अलंकारों की निश्चित संख्या नहीं बताई जा सकती। इनके समय में काव्य में नए-नए चमत्कार खोजकरों नए-नए अलंकारों का नामकरण हो रहा था, अतः इन्होंने कहा कि अभी संख्या के विषय में कुछ भी निश्चित रूप में नहीं कहा जा सकता, दीर्घ काल से नूतन अलंकारों की विकल्पना-कल्पना होती आ रही है और वह अब भी समाप्त नहीं हुई है।[1] बात यह है कि वैचारिक विमर्श की समाप्ति तो कभी होती नहीं। दण्डी के समय में अलंकार पर विमर्श चल ही रहा था। सम्भवतः काव्यशास्त्र को 'अलकार' की संज्ञा आचार्य मेधाविरुद्र के ही समय में मिल गई थी। इसके पूर्व आरम्भ में इसका नाम था, 'क्रिया-कल्प'। रामायण में सर्वप्रथम इस शब्द का प्रयोग मिलता है—

अथ कर्मान्तरे राजा समाहूय महामुनीन्।
पार्थिवांश्च नरव्याघ्रः पण्डितान्नैगमाँस्तथा॥
कलामात्राविशेषज्ञाञ्ज्योतिषे च परं गतान्।
क्रियाकल्पविदश्चैव तथा कार्यविशारदान्॥

—रामायण, उत्तरकाण्ड ९४।४,७

लव और कुश के मुख से रामायण का गान सुनने के लिए राजा राम ने जिन विशिष्ट गुणी जनों को बुलाया, उनमें 'क्रिया-कल्पविद्' भी थे। अस्तु, भरत मुनि के समय इसका नाम

१—काव्यशोभाकरान्धर्मानलङ्करान्प्रचक्षते।
ते चाद्यापि विकल्प्यन्ते कस्तान्कात्स्र्येन वक्ष्यति॥—काव्यादर्श २।१।

'काव्यलक्षण' हो गया। आचार्य आनन्दवर्धन ने भी 'काव्य-लक्ष्मविधायी' शब्द का प्रयोग किया है।[1] लक्षणों को जब अलंकार में पर्यवसित कर दिया गया तब 'काव्यलक्षण' का नाम 'काव्यालंकार' हो गया। भामह ने यही अपने ग्रन्थ का नाम भी रखा।

यह स्मरण रखना चाहिए कि भामह के समय से ही अलंकार 'काव्य सौन्दर्य' के व्यापक अर्थ में प्रयुक्त होने लगा था। आचार्य वामन तक यह मान्यता अबाध रूप में चलती रही। वह लावण्य जिसको ध्वनिकार ने ध्वनि में देखा, इन पूर्वाचार्यों ने अलंकार में ही देखा था। दण्डी का कथन, 'काव्य के शोभाकर धर्म अलंकार हैं; वामन का कहना, 'सौन्दर्य ही अलंकार है' तथा 'काव्य के शोभाकर-धर्म गुण हैं और उनमें अतिशयता लानेवाले अलंकार हैं,' यह स्पष्ट प्रमाणित करता है कि अलंकार उस समय बहुत व्यापक अर्थ में परिगृहीत हुआ था। ध्वन्यालोक की 'सरस्वती साधु···" कारिका की लोचन नाम्नी की टीका में अभिनव गुप्त कहते हैं—

'प्रतिभा अपूर्ववस्तुनिर्माणक्षमाप्रज्ञा तस्या विशेषो रसावेश-वैशद्य-सौन्दर्यनिर्माणक्षमत्वम्' अर्थात् महाकवि की रसावेश से विशद सौन्दर्य के निर्माण की क्षमता प्रतिभा में ही होती है। यह सौन्दर्य ही काव्यात्मा है। अतः ध्वनि भी अलंकारवादियों की दृष्टि में अलंकाराभिन्न सिद्ध होती है। भामह ने उसी सौन्दर्य का साक्षात्कार वक्रोक्ति में किया था।

१—तत्र वाच्यः प्रसिद्धो यः प्रकारैरुपमादिभिः।
बहुधा व्याकृतः सोऽन्यैः काव्यलक्ष्मविधायिभिः॥ —ध्वन्या०, १।२

वामन

आचार्य वामनका अलंकार-विषयक मत पहले दिया जा चुका है। इन्होंने सौन्दर्य को अलंकार कहा, किन्तु काव्यात्मा रीति को माना। इन्होंने कुल तैंतीस अलंकारों का वर्णन किया है।

भट्टोद्भट

ये वामन के समकालिक आचार्य हैं। परवर्ती सभी आचार्यों ने इनका नाम बड़े आदर के साथ लिया है। इनके उपलब्ध ग्रन्थ का नाम है 'काव्यालंकारसार-संग्रह'। इन्होंने भरत मुनि के नाट्यशास्त्र की टीका भी लिखी थी। इनका लिखा 'भामह-विवरण' भी था, किन्तु ये दोनों ग्रन्थ अद्यावधि मिले नहीं हैं। इन्होंने छह वर्गों में कुल चालीस अलङ्कारों की व्याख्या की है। पुनरुक्तवदाभास, काव्यलिंग, छेकानुप्रास, दृष्टान्त और सङ्कर इन पाँच नूतन अलंकारों का उद्भावन इन्होंने किया है। भामह-आदि ने इनका उल्लेख नहीं किया था। इसी प्रकार रसवत्, प्रेय, ऊर्जस्वि, समाहित और श्लिष्ट इन पाँच अलंकारों को विमल व्याख्या सर्वप्रथम इन्होंने ही प्रस्तुत की। इनका समय आठवीं शताब्दी का अन्तिम भाग है।

रुद्रट

ये नवम शताब्दी के मध्य में उपस्थित थे। इनका नाम शतानन्द था।[1] इनके ग्रन्थ का नाम है, 'काव्यालंकार'। यह

१—शतानन्दापराख्येन भट्टवामुकसूनुना।
साधितं रुद्रटेनेदं समाजा धीमता हितम्॥—काव्यालंकार ५।१२, १४ की टीका (नमि साधु)

ग्रन्थ सोलह अध्यायों में है, जिनमें ११ में अलङ्कार-वर्णन है। ग्रन्थ कुल ७१४ आर्या छन्दों में है। ये हैं तो मुख्यतः रसवादी, किन्तु अलंकार के क्षेत्र में इनका सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण कार्य है अलंकारों का वैज्ञानिक ढंग से विभाजन। वास्तव, औपम्य, अतिशय और श्लेष इन चार वर्गों में इन्होंने सभी अलंकारों को विभक्त कर दिया था। मत, साम्य, पिहित और भाव, इन चार नए अलंकारों की इन्होंने सर्वप्रथम उद्भावना की है। कतिपय अलंकारों के प्राचीन नामों को इन्होंने बदल भी दिया है। जैसे—व्याजस्तुति के लिए व्याजश्लेष, स्वभावोक्ति के लिए 'जाति' इत्यादि। इन्होंने ५२ अलंकारों का वर्णन किया है।

मम्मट भट्ट

आचार्यों में इनका स्थान बहुत ऊँचा है। ये आनन्दवर्धन और अभिनवगुप्त के मार्ग के ही समर्थक हैं। इन्होंने काव्य में अलंकारों की अनिवार्यता नहीं स्वीकार की। इनका 'काव्य-प्रकाश' प्रख्यात ग्रन्थ है। कतिपय विद्वानों का कहना है कि यह ग्रन्थ अकेले मम्मट की रचना नहीं है; अलक या अल्लट का भी इसमें सहयोग रहा है। किन्तु कुछ लोगों का कहना है कि 'परिकर' अलंकार तक की रचना इनकी है, शेष भाग को अल्लट ने पूर्ण किया। इन्होंने अपने समय तक प्रस्तुत पूर्ववर्ती साहित्य का मन्थन करके उसका निचोड़-स्वरूप अपना ग्रन्थ प्रस्तुत किया। इसमें ६७ अलंकारों के लक्षण सोदाहरण प्रस्तुत किये गए हैं।

जयदेव

इनका उपस्थिति-कल ११ वीं शती है। कतिपय विद्वान् इन्हें गीतगोविन्दकार से अभिन्न मानते हैं। इनका 'चन्द्रालोक'

नामक अलंकार-ग्रन्थ प्रसिद्ध है। इसमें सौ अलंकारों का उल्लेख और व्याख्या की गई है। ये कठोर अलंकारवादी थे, इसका पता इससे चलता है कि मम्मट के काव्य-लक्षण का अन्तिम अंश 'अनलंकृती पुनः क्वापि' इन्हें इतना चुभा कि इन्होंने उस पर यह कठोर उक्ति कह डाली—

अङ्गीकरोति यः काव्यं शब्दार्थावनलंकृती।
असौ न मन्यते कस्मादनुष्णमनलंकृती॥

—चन्द्रालोक, १।८

राजानक रुय्यक

काव्यशास्त्र के आचार्यों में इनका स्थान बहुत ऊँचा है। कहते हैं कि इन्होंने काव्यप्रकाश की टीका लिखी थी। महिम-भट्ट के प्रसिद्ध ग्रन्थ 'व्यक्तिविवेक' पर इनकी टीका मिलती है, किन्तु वह अधूरी ही है। इनके पांडित्य का परिचायक ग्रन्थ है 'अलंकार सवस्व'। यद्यपि अलंकारों के वर्गीकरण का प्रथम श्रेय आचार्य रुद्रट को प्राप्त है, तथापि पूर्ण वैज्ञानिक वर्गीकरण राजानक रुय्यक ने ही किया है। रचना-शैली के आधार पर इन्होंने सात भागों में अलंकारों का वर्गीकरण किया है। फिर प्रथम भाग के चार अवान्तर विभाग कर दिए हैं। इस प्रकार ग्यारह भागों में सभी अलंकारों को विभक्त कर दिया है। वे ये हैं—

(१) सादृश्यमूलक, (२) विरोधमूलक, (३) शृंखलाबन्ध-मूलक, (४) तर्कन्यायमूलक, (५) वाक्यन्यायमूलक, (६) लोकन्यायमूलक, और (७) गूढ़ार्थप्रतीतिमूलक।

सादृश्यमूलक के चार अवान्तर भेद ये हैं—

(१) भेदाभेदप्रधान, (२) आरोपमूलक अभेदप्रधान, (३) अध्यवसायमूलक अभेदप्रधान और (४) गम्यौपम्य-मूलक।

इन्होंने कुल ६७ अलंकार दिए हैं। इनका समय ११ वीं शताब्दी का उत्तरार्द्ध है।

अप्पय दीक्षित

इनका समय शत्रहवीं शताब्दी का प्रथम चरण है। अलंकारों पर इनके दो ग्रन्थ मिलते हैं, चित्रमीमांसा और कुवलयानन्द। चित्रमीमांसा अधूरा ग्रन्थ है, इसमें अतिशयोक्ति अलङ्कार तक का वर्णन मिलता है। कुवलयानन्द में १२४ अलङ्कारों का वर्णन है। यह ग्रन्थ जयदेव के चन्द्रालोक के आधार पर निर्मित है; एक ही श्लोक के पूर्वार्द्ध में लक्षण और उत्तरार्द्ध में उदाहरण। इस प्रकार छात्रों के लिए यह ग्रन्थ बड़ा उपादेय रहा है।

ऊपर वर्णित कतिपय परवर्ती आचार्यों के ही आधार पर हिन्दी में अलंकार के लक्षण ग्रन्थ बने। किन्तु हिन्दी में दोहे में लक्षण लिख कर तुरत उसका उदाहरण भी रचने के प्रयास के कारण कवियों को सफलता नहीं मिली। संस्कृत के आचार्यों ने जो उदाहरण स्वरचित दिए, वे अपने पूर्व-निर्मित काव्यों से दिए, तुरत उदाहरण लिखने नहीं बैठे। दूसरी बात यह हुई कि रीतिकालीन आचार्यों के पास गद्य का अभाव था, इसी कारण वे विस्पष्ट वृत्ति और व्याख्या प्रस्तुत न कर सके। खड़ीबोली की प्रतिष्ठा के पश्चात् विद्वानों का ध्यान इधर गया और काव्यालंकार ग्रन्थ पूर्णता के साथ लिखने का प्रयास आरम्भ हुआ।

———

अलङ्कार

अलङ्कार-परिचय

काव्य के शब्द और अर्थ की शोभा बढ़ाने वाले उन अस्थिर धर्मों को अलङ्कार कहते हैं जो शरीर की सुन्दरता बढ़ाने वाले कङ्कण, कुण्डल आदि के समान होते हैं। वे काव्य-शरीर (शब्दार्थ) के नित्य या स्थायी धर्म नहीं हैं। वे शब्दार्थ की शोभा-वृद्धि के साथ-ही-साथ काव्य की आत्मा (रस) के भी उपकारक होते हैं। उन्हीं अलङ्कारों से काव्य की शोभा बढ़ती है जो बिना प्रयत्न के अपने आप उसमें आ जाते हैं। कवि जब जान-बूझ कर प्रयत्न द्वारा कविता में अलङ्कार लादने लगता है तब उससे काव्य की स्वाभाविक शोभा जाती रहती है।

अलङ्कार तीन प्रकार के होते हैं—

(१) शब्दालङ्कार, (२) अर्थालङ्कार और (३) उभयालङ्कार।

(१) शब्दालङ्कार—कविता में शब्दगत चमत्कार का नाम 'शब्दालङ्कार' है।

इसमें कवि द्वारा प्रयुक्त शब्दों में ही चमत्कार होता है। यदि उन शब्दों को हटाकर उनके स्थान पर दूसरे शब्द उनके पर्याय के रूप में रख दिए जायँ तो वह चमत्कार जाता रहेगा।

(२) अर्थालङ्कार—कविता में अर्थगत चमत्कार का नाम अर्थालंकार है। यह चमत्कार काव्य का अर्थ समझने पर खुलता है, अर्थात् यह अर्थ में निहित रहता है। काव्य की विशेष शोभावृद्धि इसी अलंकार द्वारा होती है।

(३) उभयालङ्कार—किसी कविता में जब उपर्युक्त दोनों प्रकार के चमत्कार उपस्थित होते हैं, तब उनके समूह को उभयालंकार कहते हैं।

शब्दालङ्कार के भेद

१—अनुप्रास

जहाँ शब्दगत वर्णों में स्वर की समानता हो या न हो, किन्तु व्यञ्जनों में समानता हो, वहाँ 'अनुप्रास' अलंकार होता है।

इसके मुख्य तीन भेद होते हैं—

(१) छेकानुप्रास, (२) वृत्त्यनुप्रास और (३) लाटानुप्रास।

(१) छेकानुप्रास—जहाँ एक अथवा अनेक व्यञ्जन वर्णों की एक बार आवृत्ति हो वहाँ छेकानुप्रास होता है। जैसे,

अलस पलक, सघन अलक
श्यामल छवि छाया।
स्वप्निल मन, तन्द्रिल तन
शिथिल वसन भाया। —'ज्योत्स्ना' से

ऊपर की कविता में 'पलक' और 'अलक' में 'ल' और 'क' की, 'छवि' और 'छाया' में 'छ' की, 'स्वप्निल' और 'तन्द्रिल' में 'ल' की, 'मन' और 'तन' में 'न' वर्ण की, एक बार आवृत्ति हुई है, अर्थात् ये व्यञ्जन वर्ण केवल दो-दो बार ही प्रयुक्त हुए हैं, इसलिए इसमें 'छेकानुप्रास' हुआ।

इसी प्रकार,

गुरु-पद-रज मृदु मंजुल अंजन।
नयन-अमिय दृग-दोष-विभंजन॥
—'राम-चरित-मानस' से

इसमें 'मृदु' और 'मंजुल' शब्दों में 'म' और 'दृग' तथा 'दोष' में 'द' व्यञ्जन वर्ण केवल दो बार ही प्रयुक्त हुए हैं, इसी लिए इसे छेकानुप्रास कहेंगे।

(२) वृत्त्यनुप्रास

जहाँ पर एक अथवा अनेक व्यञ्जन वर्ण दो से अधिक बार उसी क्रम से आवें, वहाँ वृत्त्यनुप्रास होता है। इसमें भी स्वर की समानता आवश्यक नहीं है।

उदाहरण

सामने निहारा, फूल हँसते दिखाई पड़े,
बसते दिखाई पड़े डालियों के सूने घर।
भूलते दिखाई पड़े अलि पन्थ, लता-तरु
झूलते दिखाई पड़े पौन के हिंडोरे पर।
मधु को लुटाती, चित्त चंचल बनाती,
चंचला-सी बल खाती रही सुरभि हृदय-हर।
छूटा उर-धीर, हुआ कम्पित शरीर, छाई
अङ्ग-अङ्ग पीर, नैन लाए मौन नीर भर॥

—मेरे 'विहङ्ग सन्देश' से

यहाँ तृतीय चरण में लुटाती, बनाती और बलखाती में 'त' वर्ण की तथा चतुर्थ चरण में उर, धीर, शरीर, पीर, नीर और भर में 'र' वर्ण की अनेक बार आवृत्ति हुई है। यहाँ वृत्त्यनुप्रास शब्दों की शोभा बढ़ाने के साथ-साथ विप्रलम्भ शृङ्गार का भी उपकारक हुआ है।

विशेष—अनुप्रास तभी अलङ्कार कहा जायगा जब अनेक बार आने वाला या आने वाले वर्ण कवितागत रस के अनुकूल हों।

वृत्त्यनुप्रास में तीन वृत्तियाँ पाई जाती हैं। आचार्य-श्रेष्ठ भट्टोद्भट ने इन्हीं वृत्तियों के आधार पर तीन अनुप्रास-प्रकार दिखाए हैं। ये वृत्तियाँ हैं—

(१) उपनागरिका, (२) परुषा और (३) कोमला।

उपनागरिका—माधुर्य-व्यञ्जक वर्णों द्वारा रचित वृत्ति का नाम उपनागरिका है। विदग्धतामयी कामिनी से उपमा देने के कारण इसका नाम उपनागरिका है। 'क' से 'म' तक के वर्ण तथा वर्ग के अन्त्य वर्ण से उसी वर्ग के किसी वर्ण से युक्त वर्णों वाली यह वृत्ति होती है।[1]

उदाहरण

मृदु मन्द-मन्द, मन्थर-मन्थर
लघु तरणि हंसिनी-सी सुन्दर
तिर रही खोल पालों के पर।

—'गुंजन' से

परुषा—ओज गुण के प्रकाशक वर्णों से युक्त वृत्ति को परुषा कहते हैं। इसमें तालव्य 'श', मूर्द्धन्य 'ष', रेफ से युक्त वर्ण, ट-ठ-ड-ढ वर्ण तथा ह्ल,ह्व,ह्य आदि संयुक्ताक्षर रहते हैं।[2]

उदाहरण

लक्ष अलक्षित चरण तुम्हारे चिह्न निरन्तर
छोड़ रहे हैं जग के विक्षत वक्षस्थल पर!
शत-शत फेनोच्छ्वसित स्फीत फूत्कार भयंकर
घुमा रहे हैं घनाकार जगती का अंबर॥

—'पल्लव' से

१—सरूपसंयोगयुतां मूर्ध्नि वर्गान्त्ययोगिभिः।
स्पर्शैर्युतां च मन्यन्ते उपनागरिकां बुधाः॥
—काव्यालंकार-सार-संग्रह, १५

२—शषाभ्यां रेफसंयोगैष्टवर्गेण च योजिता।
परुषा नाम वृत्तिः स्याद् ह्लह्व्याद्यैश्च संयुता॥—वही, १।४

कोमला या ग्राम्या—उपर्युक्त दोनों वृत्तियों से बचे हुए वर्णों रचित कविता में कोमला वृत्ति होती है।[1]

'इस वृत्ति में 'ल', 'क', रेफ आदि वर्णों का प्रयोग होता है। इसे ग्राम्या वृत्ति कहते हैं। भट्टोद्भट ने इसे ग्राम्यानुप्रास कहा है।

(१) उदाहरण

तापस बाला गंगा निर्मल
शशि-मुख से दीपित मृदु करतल
लहरे उस पर कोमल कुन्तल।
गोरे अंगों पर सिहर-सिहर
लहराता तार तरल सुन्दर
चंचल अंचल-सा नीलाम्बर॥

—'गुंजन' से

(२) उदाहरण

ललित लवंगलता-परिशीलन-कोमल-मलय-समीरे।
मधुकर-निकर-करम्बित-कोकिल-कूजित-कुंज-कुटीरे॥

—'गीतगोविन्द' से

विमर्श—आचार्य भट्टोद्भट ने इन तीनों वृत्तियों के नामों पर ही अनुप्रास के नाम दे दिए हैं। बाद के आचार्यों ने सबको वृत्त्यनुप्रास के ही भीतर समेट लिया।

१—शेषैर्वर्णैर्यथायोगं कथितां कोमलाख्यया।
ग्राम्यां वृत्तिं प्रशंसन्ति काव्येष्वाहतबुद्धयः॥—वही, १।६

(३) लाटानुप्रास

जहाँ शब्दावली तो वही हो और अर्थ भी एक-सा ही प्रतीत होता हो, किन्तु अन्वय करने पर अर्थ की विभिन्नता प्रकट हो, वहाँ लाटानुप्रास होता है।

उदाहरण

तीरथ-व्रत साधन कहा, जो निसि-दिन हरि-गान।
तीरथ-व्रत साधन कहा, बिन निस-दिन हरि-गान॥

इस दोहे को दोनों पंक्तियों में शब्द और अर्थ एक-से ही दिखाई पड़ते हैं, किन्तु अन्वय करने पर दोनों के तात्पर्य में भेद प्रकट हो जाता है। कवि कहता है कि यदि कोई व्यक्ति दिन-रात भगवान् का गुण-गान करता रहे तो उसे तीर्थ और व्रत आदि क्रियाओं के करने कोई आवश्यकता नहीं है, किन्तु इसके विपरीत यदि कोई तीर्थ और व्रत निरन्तर करे और वह दिन-रात भगवान् का गुण-गान न करे तो उसकी तीर्थ-यात्रा, व्रत आदि की सब क्रियाएँ व्यर्थ हैं।

विशेष—यह अनुप्रास केवल वर्ण पर आश्रित न रह कर अर्थ पर भी आश्रित रहता है।

२—यमक

जहाँ एक ही शब्द या वाक्य अनेक बार आए, किन्तु प्रत्येक बार उसका अर्थ भिन्न-भिन्न हो, वहाँ 'यमक' अलंकार होता है।

उदाहरण

कनक कनक तें सौगुनी, मादकता अधिकाय।
यह पाए बौरात नर, वह खाए बौराय॥

—बिहारी

इस दोहे में 'कनक' शब्द दो बार आया है, किन्तु प्रथम बार आए हुए 'कनक' का अर्थ है 'सोना' या 'धन' और दूसरी बार आए हुए 'कनक' का अर्थ है 'धतूरा'; इसलिए यहाँ यमक अलङ्कार हुआ।

कहीं-कहीं भंग-पद यमक भी होता है, जब पद को तोड़ कर भी पहले के समान दूसरा शब्द बन जाता है।

उदाहरण

करौ कसर तनिकौ नहीं, कसरत निकौ निकाम।
कसरत में कसरत रहे, पलक सरत हे काम॥

—स्व-रचित

इस दोहे में 'कसरत' शब्द की आवृत्ति पाँच बार हुई है, किन्तु यह शब्द दो शब्दों के अंश को तोड़ कर मिलाने से ही तीन बार बनता है और सबके अर्थ भिन्न-भिन्न होते हैं। इसी प्रकार 'तनिकौ' शब्द भी दो बार आया है और दूसरी बार 'कसरत' शब्द का 'त' और 'निकौ' के मिलने से वह बनता है। इसे भङ्गपद यमक कहते हैं।

विशेष—अनेक आचार्यों ने इसके अनेक भेद बतलाए हैं और उनके उदाहरण भी या तो स्वयं बनाए हैं या कहीं-न-कहीं से ढूँढ़ कर रख दिए हैं। किन्तु 'यमक' का आनन्ददायक चमत्कार इन्हीं दोनों रूपों में पाया जाता है और इन्हीं रूपों में यमक की स्वाभाविकता भी रहती है। दूसरे भेदों में कवि को यत्न करके अलंकार लाना पड़ता है और कविता की स्वाभाविकता जाती रहती है।

३—पुनरुक्तवदाभास

जहाँ काव्य के श्रवण मात्र से किसी शब्द की पुनरुक्ति प्रतीत हो, किन्तु वास्तव में पुनरुक्ति हो नहीं, वहाँ पुनरुक्तवदाभास अलंकार होता है।

(३) उदाहरण

ग्रीषम को भीषम प्रताप जग जाग्यो, भये
सीत के प्रभाव भाव भावना भुलानी के।
कहै 'रतनाकर' त्यों जीवन भयो है जल
जाके बिना मानस सुखात सब प्रानी के॥

द्वितीय चरण पड़ने पर 'जीवन' के साथ ही 'जल' शब्द का प्रयोग पुनरुक्त-सा लगता है, क्योंकि जीवन का एक अर्थ 'जल' भी होता है। किन्तु यहाँ 'जीवन' शब्द 'प्राण' के अर्थ में प्रयुक्त हुआ है। अर्थ समझने पर पुनरुक्तत्व दोष दूर हो जाता है।

इसके दो प्रकार होते हैं (१) शब्दगत और (२) शब्दार्थगत।

उपर्युक्त उदाहरण शब्दगत पुनरुक्तवदाभास का है, क्योंकि यदि 'जीवन' शब्द को हटा कर उसके स्थान पर 'जल ही भयो है प्राण' कर दें तो अलंकारत्व समाप्त हो जाता है। इस प्रकार यह 'श्लेष' की भाँति शब्दालंकार और अर्थालंकार दोनों हो है।[1]

१—पुनरुक्तवदाभासो विभिन्नाकारशब्दगा।
एकार्थतेव शब्दस्य तथा शब्दार्थयोरयम्॥—काव्यप्रकाश, ९।८६

४—पुनरुक्तिप्रकाश

जहाँ भाव का उत्कर्ष दिखाने के लिए एक ही शब्द अनेक बार एक ही अर्थ में प्रयुक्त होता है, वहाँ पुनरुक्तिप्रकाश अलंकार होता है।

उदाहरण

जब तैं दरसे मनमोहन जू, तब ते अँखियाँ ये लगीं सो लगीं।
कुलकानि गई भजि नाहीं धरी, ब्रजराज के प्रेम पगीं सो पगीं।
कवि 'ठाकुर' नेह के नेजन की उर मैं अनी आनि खगीं सो खगीं।
अब गाँव रे नाँव रे कोऊ धरौ, हम साँवरे रंग रँगीं सो रँगीं॥

—ठाकुर

यहाँ लगीं, पगीं, खगीं, और रँगीं ने दो-दो बार आकर विशुद्ध प्रेम को और स्थिर करके चमका दिया है।

५—वीप्सा

जहाँ व्यथा, करुणा, क्रोध आदि भावों के सूचक शब्द अनेक बार प्रयुक्त होते हैं, वहाँ वीप्सा अलंकार होता है।

उदाहरण

रीझि-रीझि रहसि-रहसि हँसि-हँसि उठै
साँसैं भरि आँसू भरि कहत दई-दई।
चौंकि-चौंकि चकि-चकि औचक उचकि 'देव'
जकि-जकि बकि-बकि परत बई-बई।
दुहुन को रूप, गुन दोऊ बरनत फिरैं
घर ना थिरात रीति नेह की नई-नई।
मोहि-मोहि मोहन कौ मन भयौ राधा-मय
राधा-मन मोहि-मोहि मोहन मई-मई॥

—महाकवि देव

यहाँ दई-दई, चौंकि-चौंकि आदि के दुहरे प्रयोगों से मनोभावों के उत्कर्ष को सूचना मिलती है। इसे एक प्रकार से पुनरुक्ति-प्रकाश ही समझना चाहिए।

———

६—वक्रोक्ति

जहाँ वक्ता के अन्य अर्थ में कहे हुए वाक्य का श्रोता श्लेष अथवा काकु (ध्वनि-विकार) के द्वारा दूसरा अर्थ लगा लेता है, वहाँ वक्रोक्ति अलंकार होता है। इसके दो भेद होते हैं—

(१) श्लेष वक्रोक्ति और (२) काकुवक्रोक्ति।

श्लेष वक्रोक्ति—जहाँ श्लिष्ट (अनेकार्थक) पद का वक्ता के अभिप्राय से भिन्न अर्थ करके श्रोता उत्तर देता है, वहाँ श्लेष वक्रोक्ति होती है।

उदाहरण

गौरशालिनी प्यारी हमारी तुम्हीं हमको इक इष्ट अहो।
हौं न गऊ, नहिं हौं अवशा, अलिनी हू नहीं, अस काहे कहो?

यहाँ 'गौरवशालिनी' पद का पार्वती जी ने श्लेष से 'गौः + अवशा + अलिनी' अर्थ कर लिया, जो शिव जी के अभिप्रेत अर्थ से सर्वथा भिन्न है।

काकु वक्रोक्ति—जहाँ वक्ता की उक्ति को ध्वनि-विकार से बदलकर श्रोता विपरीत अर्थ में उत्तर देता है, वहाँ काकु-वक्रोक्ति होती है।

उदाहरण

रावण—तुम्हरे कटक माँझ सुनु अंगद।
मो सन भिरहि कवन जोधा बद॥

अंगद—सत्य कहहि दसकंठ सब, मोहिं न सुनि कछु कोह।
कोउ न हमारें कटक अस, तो सन लरत जो सोह॥

—रामचरित-मानस

रावण ने कहा कि तुम्हारी सेना में मुझसे भिड़ने वाला कौन है? (अर्थात् सभी मुझसे दुर्बल हैं।) अंगद ने कहा—'कोई नहीं।' अर्थात् हमारी सेना का प्रत्येक वीर तुमसे बलवान् है।

विमर्श—इसे कुछ आलङ्कारिकों ने अर्थालंकार में गिनाया है। सर्वप्रथम इसका महत्त्व प्रतिपादित करनेवाले आचार्य भामह हैं। उन्होंने अर्थचारुत्व का मूल इसी को माना और बलपूर्वक कहा—

सैषा सर्वत्र वक्रोक्तिरनयाऽर्थो विभाव्यते।
यत्नोऽस्यां कविना कार्यः कोऽलङ्कारोऽनया विना॥

—काव्यालङ्कार २।८५

शब्द और अर्थ से भी आगे ध्वन्यर्थ तक पहुँचने वाली शक्ति के रूप में मानकर काव्य की आत्मा के रूप में इसकी प्रतिष्ठा करने वाले मनीषी और मानी आचार्य कुन्तक हैं। इसके स्वरूप-विस्तार को दिखाने के लिए उन्होंने 'वक्रोक्तिजीवित' नामक महान् अलंकार-ग्रन्थ की रचना कर डाली।

७—श्लेष

जहाँ एक ही शब्द में दो या दो से अधिक अर्थ छिपे हों, वहाँ श्लेष नामक अलंकार होता है।

यह अलंकार जहाँ केवल शब्दों में ही सीमित रहता है, शब्दालंकार होता है और जहाँ पदगत होकर दो या दो से अधिक प्रस्तुत अर्थों का मुख्य रूप से बोध कराता है, वहाँ अर्थालंकार हो जाता है।

उदाहरण

रावन - सिर - सरोज - बनचारी।
चलि रघुबीर - सिलीमुख - धारी॥

इसमें 'सिलीमुख' शब्द के दो अर्थ हैं, (१) बाण और (२) भौंरा। यह श्लेष केवल एक शब्द पर ही टिका है, इसलिए इसे शब्द-श्लेष कहेंगे।

अर्थालङ्कार

अर्थालंकार में 'उपमा' अलंकार का प्रमुख स्थान है और औपम्य-मूलक अलंकार ही सबसे अधिक होते हैं, अतएव सर्वप्रथम प्रायः इसी को आलंकारिकों ने स्थान दिया है। इसके चार अङ्ग होते हैं—(१) उपमेय, (२) उपमान, (३) साधारण धर्म और (४) वाचक शब्द।

१. उपमेय—जिस वस्तु का वर्णन कवि को अभीष्ट होता है, उसे 'उपमेय' कहते हैं।

२. उपमान—उपमेय की समता के लिए जो वस्तु सामने लाई जाती है, उसे 'उपमान' कहते हैं।

३. साधारण धर्म—जिस गुण, वर्ण, क्रिया या आकार को लक्ष्य करके उपमा दी जाती है, उसे 'साधारण धर्म' कहते हैं।

४. वाचक—जिस शब्द के द्वारा यह उपमा जताई जाती है उसे 'वाचक' कहते हैं।

उदाहरण

रामहिं लखन बिलोकत कैसे।
ससिहिं चकोर - किसोरक जैसे॥—रा० च० मा०

इसमें 'लखन' (लक्ष्मण) उपमेय, 'चकोर-किसोरक' (चकोर का बच्चा) उपमान, 'बिलोकत' साधारण धर्म और 'जैसे' वाचक पद है।

० उपमा

जहाँ दो भिन्न-भिन्न पदार्थों में गुण, क्रिया, वर्ण आदि की समानता देख कर तुलना की जाय।

यह दो प्रकार की होती है—(१) पूर्णोपमा और (२) लुप्तोपमा।

(१) पूर्णोपमा

जिसमें ऊपर कहे गए उपमा के चारों अङ्ग अर्थात् उपमेय, उपमान, वाचक और धर्म वाच्य रूप में उपस्थित हों, उसे पूर्णोपमा कहते हैं।

उदाहरण

वृन्दाबन बानक बिसद, बगरयो बहुरि बसन्त।
बिबुध-बधूटी-सी बिमल, ब्रज-बनिता बिलसन्त॥

यहाँ उपमा के चारों अंग प्रस्तुत हैं, अतः यह पूर्णोपमा हुई।

(२) लुप्तोपमा

उपमा के चार अंगों (उपमेय, उपमान, वाचक और साधारण-धर्म) में से एक, दो अथवा तीन का जहाँ लोप हो उसे लुप्तोपमा कहते हैं।

(१) उदाहरण

(१) कुन्द इन्दु सम देह, उमारमन करुना-अयन।
जाहि दीन पर नेह, करहु कृपा मर्दन-मयन॥—रा०च०मा०

उपर्युक्त दोहे में शिवजी की 'देह' की उपमा 'कुन्द' और 'इन्दु' से दी गई है, 'सम' वाचक शब्द है, किन्तु साधारण धर्म (उज्ज्वलता) का वाच्य रूप में उल्लेख नहीं है। अतः यह धर्म-लुप्तोपमा हुई।

(२) उदाहरण

दिवसावसान का समय
मेघमय आसमान से उतर रही है
वह सन्ध्या-सुन्दरी परी-सी
धीरे-धीरे-धीरे।—'निराला'

(३) उदाहरण

तड़ित्-सा सुमुखि ! तुम्हारा ध्यान
प्रभा के पलक मार, उर चीर
गूढ़ गर्जन कर जब गम्भीर
मुझे करता है अधिक अधीर
जुगुनुओं-से उड़ मेरे प्राण
खोजते हैं तब तुम्हें निदान।—'पन्त'

विशेष—इसमें कभी वाचक, कभी धर्म, कभी उपमान और कभी उपमेय लुप्त हो जाता है और कभी दो तथा कभी तीन अंगों तक का लोप हो जाता है। इस प्रकार इसके अनेक भेद होते हैं।

मालोपमा

जहाँ एक ही उपमेय के अनेक उपमान कहे जाते हैं, वहाँ मालोपमा अलङ्कार होता है।

इसके दो भेद होते हैं :—

(१) भिन्न-धर्मा और (२) अभिन्न-धर्मा।

१. भिन्न-धर्मा

जहाँ उपमेय के जितने उपमान कहे जायँ उन सबके भिन्न-भिन्न धर्म कहे गये हों, जैसे—

(१) उदाहरण

सफरी-से चंचल घने, मृग-से पीन सुऐन।
कमल-पत्र-से चारु ये, राधा जू के नैन॥

यहाँ नेत्रों की उपमा सफरी से चंचलता के कारण, मृग से विशालता के कारण, कमल-पत्र से सुन्दरता और आह्लादजनकता के कारण दी गई है। अर्थात् सभी उपमानों के धर्म भिन्न-भिन्न कहे गए हैं।

(२) उदाहरण

चंचलता मृग-सी, मयङ्क की-सी मंजुलता,
बिज्जुलता की-सी दुति मादक तिहारे में॥—स्वकीय

(३) उदाहरण

राम काम सतकोटि सुभग तन।
दुर्गा कोटि अमित अरिमर्दन॥
सक्र कोटि सत सरित बिलासा।
नभ सत कोटि अमित अवकासा॥
मरुत कोटि सत विपुल बल, रबि सत कोटि प्रकास।
ससि सत कोटि सुसीतल, समन सकल भव-त्रास॥—रा० च० मा०

२. अभिन्नधर्मा

जहाँ एक ही धर्म के लिए अनेक उपमान लाए जायँ।

उदाहरण

इन्द्र जिमि जम्भ पर, बाड़व सुअम्भ पर,
रावन सदम्भ पर रघुकुल-राज है।

पौन बारिबाह पर, सम्भु रतिनाह पर
ज्यों सहस्रबाहु पर राम द्विजराज है।
दावा द्रुमदण्ड पर, चीता मृगझुण्ड पर,
'भूषन' बितुण्ड पर जैसे मृगराज है।
तेज तम-अंस पर, कान्ह जिमि कंस पर
त्यों मलेच्छ-बंस पर सेर सिवराज है॥

—शिवा-बावनी

इसमें एक ही नाशक धर्म के कारण इन्द्र आदि उपमान लाए गए हैं।

रशनोपमा

जहाँ पहले कहे गए उपमेय उत्तरोत्तर उपमान होते जायँ और इस प्रकार उपमाओं की एक शृङ्खला बन जाय। जैसे,

मति-सी नति, नति-सी बिनति, बिनती-सी रति चारु।
रति-सी गति, गति-सी भगति, तो में पवनकुमारु॥

यहाँ 'नति' पहले उपमेय कहा गया है, फिर वही 'बिनती' उपमेय का उपमान हो गया है, इसी प्रकार 'बिनती' आगे चलकर उपमान बन गई हैं।

अनन्वय

जहाँ अन्य उपमान के अभाव में उपमेय ही स्वयं उपमान का भी काम करता है, वहाँ अनन्वय नामक उपमा होती है।

उदाहरण

साहितनै सरजा तव द्वार प्रतिच्छन दान की दुंदुभि बाजै।
'भूषन' भिच्छुक भीरन की अति भोजहु ते बढ़ि मौजनि साजै।

राजन को गन, राजन ! को गनै, साहिन में न इती छबि छाजै।
आजु गरीबनेवाज मही पर तो-सो तुही सिवराज बिराजै ॥

—शिवराज-भूषण

यहाँ महाकवि भूषण ने शिवाजी का उपमान शिवाजी को ही, 'तो-सो तुही' कह कर, बनाया है। इसलिए यहाँ अन्तिम चरण में अनन्वयोपमा हुई।

उपमेयोपमा

जहाँ उपमेय और उपमान परस्पर उपमेय और उपमान के रूप में वर्णित हों। अर्थात् पहले जो उपमेय होता है वही बाद में उपमान हो जाता है और जो पहले उपमान-रूप में वर्णित होता है वह बाद में उपमेय हो जाता है।

तेरो तेज सरजा समत्थ दिनकर-सो है
दिनकर सोहै तेरे तेज के निकर सो।
भौंसिला भुवाल ! तेरो जस हिमकर-सो है
हिमकर सोहै तेरे जस के अकर-सो।
'भूषन' भनत तेरो हियो रतनाकर-सो
रतनाकरो है तेरे हिये सुखकर-सो।
साहि के सपूत सिव साहि दानि ! तेरो कर
सुरतरु-सो है, सुरतरु तेरे कर-सो ॥—शिव० भू०

यहाँ प्रत्येक चरण में पहले जो उपमेय है वही फिर उपमान हो गया है और उपमान फिर उपमेय बना दिया गया है। अतः यहाँ प्रत्येक चरण में उपमेयोपमा हुई।

प्रतीप

जहाँ उपमान का उपमेय के रूप में वर्णन किया जाय अथवा प्रसिद्ध उपमान का उपमेय द्वारा तिरस्कार दिखाया जाय, वहाँ प्रतीप अलंकार होता है।

उदाहरण

बिदा किये बटु बिनय करि, फिरे पाइ मनकाम।
उतरि नहाने जमुन-जल, जो सरीर सम स्याम॥
—रा० च० मा०

यहाँ यमुना का श्याम जल उपमेय के रूप में कहा गया है, जो वास्तव में श्याम शरीर का वर्ण-साम्य के कारण प्रसिद्ध उपमान है।

प्रतीप पाँच प्रकार का होता है—

प्रथम प्रतीप—जहाँ प्रसिद्ध उपमान को उपमेय रूप में ग्रहण करके उसकी निष्फलता दिखाई जाय।

उदाहरण

प्राची दिसि ससि उयेउ सुहावा।
सीय बदन सम लखि सुख पावा॥—रा० च० मा०

यहाँ चन्द्रमा, जो मुख का प्रसिद्ध उपमान है, उपमेय हो गया है।

द्वितीय प्रतीप—जहाँ कल्पित उपमेय द्वारा उपमान (पूर्व उपमेय) का निरादर किया जाय।

उदाहरण

सिव प्रताप तव तरनि-सम, अरि-पानिप-हर मूल।
गरब करत केहि हेत है, बड़वानल तो तूल॥
—शिवराज-भूषण

यहाँ बड़वानल को उपमेय कल्पित करके उसके द्वारा 'सिव-प्रताप' (शिवाजी के प्रताप) का, जो उपमान बना दिया गया है, निरादर कराया गया है।

तृतीय प्रतीप—जहाँ उपमेय को उपमान बना कर उसके द्वारा कल्पित उपमेय का निरादर किया जाय।

उदाहरण

गरब करत कत चाँदनी, हीरक छीर-समान।
फैली इती समाजगत, कीरति सिवा खुमान॥ —शि० भू०

यहाँ 'कीरति सिवा खुमान' अर्थात् आयुष्मान् शिवाजी की कीर्ति को उपमान बनाकर उसके द्वारा चाँदनी का अपमान या तिरस्कार कराया गया है।

चतुर्थ प्रतीप—जहाँ उपमान को उपमेय से की गई समता व्यर्थ सिद्ध की जाय, वहाँ चतुर्थ प्रतीप होता है।

उदाहरण

छीरधि मैं पंक, कलानिधि मैं कलंक,
यातें रूप एकटंक ये लहैं न तव जस को।—शि० भू०

यहाँ 'छीरधि' और 'कलानिधि' दोनों की समता क्रमशः पंक और कलंक के कारण व्यर्थ ठहराई गई है।

पंचम प्रतीप—जहाँ उपमान (कल्पित उपमेय) उपमेय (कल्पित उपमान) से हीनता के कारण व्यर्थ कह दिया जाता है, वहाँ पंचम प्रतीत होता है।

१—निष्फलत्वाभिधानं वा प्रतीपमिति कथ्यते।—साहित्यदर्पण
तस्यैव यदि वा कल्प्या तिरस्कारनिबन्धनम्।
कैमर्थ्येन यदुपमानमाक्षिप्यते···।—काव्यप्रकाश

उदाहरण

कुन्द कहा, पय-वृन्द कहा अरु चंद कहा सरजा जस आगे।
'भूषन' भानु, कृसानु कहाऽब खुमान प्रताप महीतल पागे।
राम कहा, द्विजराम कहा, बलराम कहा रन में अनुरागे।
बाज कहा, मृगराज कहा अति साहस में सिवराज के आगे॥

—शि० भू०

यहाँ अनेक उपमानों की शिवाजी से विभिन्न गुणों में हीनता दिखाकर उनकी व्यर्थता दिखाई गई है।

रूपक

जहाँ उपमेय और उपमान का 'निषेध के बिना ही' परस्पर अभेद रूप में वर्णन किया जाय, अथवा जहाँ उपमेय को उपमान का ही रूप दे दिया जाय।

इस प्रकार इसके दो होते हैं, अभेद और तद्रूप।

(१) अभेद रूपक

जहाँ उपमान और उपमेय में अभेद सम्बन्ध हो वहाँ अभेद रूपक होता है।

उदाहरण

मेखलाकार पर्वत अपार,
अपने सहस्र दृग-सुमन फाड़।
अवलोक रहा है बार-बार,
नीचे जल में निज महाकार।

—पल्लव

यहाँ 'दृग-सुमन' में अभेद रूपक है, क्योंकि 'दृग' उपमान और 'सुमन' उपमेय दोनों में अभेद-सम्बन्ध स्थापित किया गया है।

(२) तद्रूप रूपक

जहाँ उपमेय को उपमान का ही रूप देकर कवि सामने लाता है, वहाँ तद्रूप रूपक होता है।

उदाहरण

रच्यो बिधाता दुहुन लै, सिगरी सोभा साज।
तू सुन्दर रति दूसरी, यह दूजो सुरराज॥

यहाँ नायिका जो उपमेय है, वह 'रति' के रूप में दिखाई गई है और नायक 'सुरराज' के रूप में अंकित किया गया है।

अभेद और तद्रूप का अन्तर

तद्रूप रूपक में उपमेय और उपमान की भिन्नता दूसरा, अपर, अन्य आदि वाचक शब्दों द्वारा व्यक्त हो जाती है, किन्तु अभेद रूपक में किसी भी प्रकार दोनों की भिन्नता परिलक्षित नहीं होती।

उल्लेख

जहाँ पर वर्णनीय या उपमेय का अनेक प्रकार से उल्लेख अथवा वर्णन किया जाता है, वहाँ उल्लेख अलंकार होता है। यह दो रूपों में आता है।

प्रथम उल्लेख

जहाँ प्रस्तुत का अनेक लोग अनेक रूपों में वर्णन करें अथवा अनेक रूपों में उसे देखें या सुनें।

उदाहरण

जानति सौति अनीति है, जानति सखी सुनीति।
गुरुजन जानत लाज है, प्रीतम जानत प्रीति॥

यहाँ राधा को उनकी सपत्नियों ने अनीति समझा, सखियों ने नीति के रूप में जाना, गुरुजनों ने उसे साक्षात् लज्जा और उसके प्रियतम श्रीकृष्ण ने मूर्तिमती प्रीति ही समझा। अर्थात् एक ही राधा को अनेक व्यक्तियों ने अनेक रूपों में जाना।

द्वितीय उल्लेख

जहाँ एक ही व्यक्ति अथवा वस्तु को एक ही व्यक्ति अनेक रूपों में देखे, समझे अथवा वर्णन करे, वहाँ दूसरा उल्लेख होता है।

उदाहरण

साधुन को सुखदानि है, दुर्जन को दुखदानि।
बैरिन-विक्रम-हानिप्रद, राम तिहारे पानि॥

यहाँ एक ही व्यक्ति ने राम के 'पानि' (हाथ) का अनेक रूपों में वर्णन किया है। अतः यहाँ द्वितीय उल्लेख हुआ।

स्मरण

जहाँ किसी वस्तु के देखने से उसी के समान रूपवाली पहले देखी हुई किसी दूसरी ज्ञात वस्तु का स्मरण हो आए, वहाँ स्मरण अलंकार होता है।

उदाहरण

प्राची दिसि ससि उयेउ सुहावा।
सीय बदन सम लखि सुख पावा॥

यहाँ चन्द्रमा के देखने से सीता के मुख के स्मरण हो आने का वर्णन है। अतः यहाँ स्मरण अलंकार हुआ।

भ्रान्तिमान् अथवा भ्रम

जहाँ किसी वस्तु को देखकर उसी के समान किसी दूसरी वस्तु का भ्रम उत्पन्न हो।

उदाहरण

नाचि अचानक ही उठे, बिनु पावस बन-मोर।
जानति हौं नन्दित करी, इहि दिसि नन्द-किसोर॥ —बिहारी

दूर से श्रीकृष्ण को आते देखकर मोरों को बादल का भ्रम हो गया। इसलिए यहाँ भ्रान्तिमान् अलंकार हुआ।

सन्देह

जहाँ किसी वस्तु को देखकर उसी के समान दूसरे अनेक उपमानों की कल्पना की जाय; किन्तु उन उपमानों में किसी एक का भी निश्चय न हो और सन्देह बराबर बना ही रहे, वहाँ सन्देह नामक अलंकार होता है।

उदाहरण

बालधी बिसाल बिकराल ज्वाल-जाल मानौं
लंक लीलिबे को काल रसना पसारी है।
कैधौं व्योम-बीथिका भरे हैं भूरि धूमकेतु
बीररस बोर तरवारि-सी उघारी है।
'तुलसी' सुरेस-चाप कैधौं दामिनि-कलाप,
कैधौं चली मेरु तें कृसानु-सरि भारी है।

—कवितावली

यहाँ हनुमान् जी की जलती हुई पूँछ को देख कर काल की जिह्वा, आकाश-वीथी में धूमकेतुओं के समूह, वीररस की तलवार आदि अनेक उपमानों के होने का सन्देह प्रकट किया गया है।

सूचना—स्मरण रहे कि 'भ्रान्तिमान्' में वर्णित उपमेय में किसी अन्य उपमान का निश्चित भ्रमात्मक ज्ञान हो जाता है, किन्तु 'सन्देह' में दूसरे उपमानों की सम्भावना अन्त तक बनी रहती है। किसी भी उपमान के प्रति निश्चित भ्रम नहीं होता।

———

अपह्नुति

जहाँ उपमेय को निषेधपूर्वक छिपाकर उस पर उपमान का आरोप किया जाता है, वहाँ अपह्नुति अलङ्कार होता है।

'अपह्नुति' शब्द का अर्थ है 'छिपाना'। इसमें उपमेय को छिपाया जाता है और उसके स्थान पर उपमान की प्रतिष्ठा की जाती है। इसके छह भेद होते हैं—

(१) शुद्धापह्नुति, (२) हेत्वपह्नुति, (३) पर्यस्तापह्नुति, (४) भ्रान्त्यपह्नुति (५) छेकापह्नुति और (६) कैतवापह्नुति

१—शुद्धापह्नुति

जहाँ उपमेय या अवर्णनीय का निषेध करके उसके स्थान पर उपमान या अवर्णनीय का स्थापन किया जाय, वहाँ शुद्धापह्नुति होती है।[1]

१—उपमेयमसत्यं कृत्वोपमानं सत्यतया यत्स्थाप्यते सात्वपह्नुतिः।

—काव्यप्रकाश, १०

उदाहरण

तिय-मुख-रूप-समुद्र में, तिल पन्थी मत चेत।
बिरही बूड़्यो जात है, सीस दिखाई देत॥

यहाँ नायिका के मुखस्थ तिल का निषेध करके रूप-समुद्र में डूबते विरही के सिर का आरोप किया गया है।

२—हेत्वपह्नुति

जहाँ उपमेय का निषेध सकारण करके उसके स्थान पर उपमान की स्थापना की जाय।

उदाहरण

रात माँझ रबि होत नहिं, ससि नहिं तीव्र सुलागि।
उठी लखन अवलोकिए, बारिधि तें बड़वागि॥

रात में सूर्य होता नहीं और चन्द्रमा में इतना ताप नहीं होता, इसलिए यह समुद्र से उठती हुई बड़वाग्नि है। यहाँ चन्द्रमा का निषेध सकारण करके उसे बड़वाग्नि कहा गया है।

३—पर्यस्तापह्नुति

जहाँ उपमान के धर्म को उपमेय में स्थापित करके उसी को उपमान-स्थानीय मान लिया जाय, अर्थात् धर्माक्षेपपूर्वक उपमेय को ही उपमान रूप में स्वीकार किया जाय, वहाँ पर्यस्तापह्नुति होती है।

'पर्यस्त' का अर्थ है, 'फेंका हुआ'। यहाँ उपमान के धर्म को उपमेय में फेंक या निक्षिप्त कर दिया जाता है।

(१) उदाहरण

तेरे ही भुजानि पर भूतल को भार,
कहिबे को सेसनाग, दिगनाग, हिमाचल है।

—शिवराज-भूषण

यहाँ भूतल का भार शेषनाग, दिङ्नाग और हिमाचल के सिर से उठाकर शिवाजी की भुजाओं पर रख दिया गया है। इस प्रकार यह प्रकट किया गया कि शेषनाग, दिङ्नाग और हिमाचल तीनों शिवाजी की भुजाएँ ही हैं।

(२) उदाहरण

है न चंद यह, चंद अलि, राधा-बदन बिचारि।
हरि-चकोर निसि-द्यौस हूँ, जीवत जाहि निहारि॥

चन्द्र को चकोर देखता है, यहाँ कृष्ण-चकोर को राधा-वदन देखने वाला कह कर 'राधा-वदन' को ही चन्द्र कहा गया है।

४—भ्रान्त्यपह्नुति

जहाँ उपमेय में उपमान के भ्रम का, सत्य बात कह कर, निवारण किया जाता है वहाँ भ्रान्त्यपहनुति होती है।

उदाहरण

बेसर-मोती-दुति-झलक, परी अधर पर आय।
चूनो होय न चतुर तिय, क्यों पट पोंछो जाय॥

—बिहारी

यहाँ 'बेसर' नामक गहने के मोती को झलक में नायिका को मुख पर चूने का भ्रम हुआ। सखी ने तथ्य कह कर भ्रम को दूर कर दिया।

५—छेकापह्नुति

जहाँ किसी गोप्य व्यक्ति के प्रकट हो जाने के भय से उसी के समान धर्म वाली किसी दूसरी वस्तु को प्रकट करके वर्णनीय को छिपा दिया जाता है, वहाँ छेकापह्नुति होती है।

'छेक' शब्द का अर्थ होता है 'विदग्ध', 'प्रवीण'। यहाँ विदग्धता से अभीष्ट व्यक्ति या वस्तु का गोपन किया जाता है। आचार्य केशव मिश्र ने केवल इसी को अपह्नुति माना है।[1] आचार्य क्षेमेन्द्र के मत से इसे 'प्रतिभौचित्य' कहा जायेगा।[2]

उदाहरण

मधुर वाणी को सुनाता, सरित तट घन कान्त-छाया।
क्या सखी! गोपाल? नहिं-नहिं एक पिक था दृष्टि आया॥

—संस्कृत श्लोक का भाव

६—कैतवापह्नुति

जहाँ उपमेय को कैतव से अर्थात् मिस, व्याज आदि शब्दों द्वारा छिपाया जाता है, वहाँ कैतवापह्नुति होती है।

ऊपर की पाँचों अपह्नुतियों को प्राचीन आचार्यों ने 'शाब्दी' और कैतवापह्नुति को 'आर्थी' कहा है।

उदाहरण

अमर के नाम के बहाने गो अमरपुर,
चंदावत लरि सिवराज के दलन सों।

—शिवराज-भूषण

१—'अलंकार शेखर' में केशव मिश्र ने अपह्नुति का यह लक्षण दिया है—'किञ्चिदपह्नुत्य यदन्यार्थप्रदर्शनम् सापह्नुतिः।—४।४

२—'प्रतिभाभरणं काव्यमुचितं शोभते कवेः।'—औचित्य-विचार-चर्चा

यहाँ अमर सिंह चन्दावत 'अमर' अर्थात् देवता के नाम के बहाने अमरपुर अर्थात् स्वर्ग चला गया। यहाँ बहाने से कार्य सिद्ध किया गया है।

उत्प्रेक्षा

जहाँ कवि उपमेय को अपने दिए गए उपमान से भिन्न जानते हुए भी उसमें कल्पित उपमान की सम्भावना करता है।

वाचक शब्द

मनु, जनु, मानो, मानहु, मनहु, जानो, मेरे जान, इव आदि।

उत्प्रेक्षा के मुख्य दो प्रकार होते हैं, (१) वाच्य और (२) प्रतीयमान।

वाच्योत्प्रेक्षा—जहाँ उत्प्रेक्षा के वाचक शब्द—मनु, जनु, मानो आदि—प्रयुक्त होते हैं, वहाँ वाच्योत्प्रेक्षा होती है।

प्रतीयमानोत्प्रेक्षा—जहाँ वाचक शब्द का प्रयोग किए बिना उत्प्रेक्षा की जाती है, वहाँ प्रतीयमान या गम्य-उत्प्रेक्षा होती है।

वाच्योत्प्रेक्षा के भेद

इसके मुख्य तीन भेद होते हैं—

(१) वस्तूत्प्रेक्षा या स्वरूपोत्प्रेक्षा, (२) हेतूत्प्रेक्षा और (३) फलोत्प्रेक्षा।

१—वस्तूत्प्रेक्षा—जहाँ किसी वस्तु को उपमेय बनाकर उस में किसी उपमान की सम्भावना की जाय, वहाँ वस्तूत्प्रेक्षा होती है।

उदाहरण

लता-भवन तें प्रगट भए, तेहि अवसर दोउ भाइ।
निकसे जनु जुग बिमल बिधु, जलद-पटल बिलगाइ॥

—रामचरित-मानस

दोनों भाई, राम और लक्ष्मण, दो व्यक्ति हैं, इनके मुखों को देखकर दो चन्द्रों की सम्भावना की गई है। लता-भवन से बाहर निकलते दोनों भाई मानो मेघ-पटल से निकलते दो चन्द्रमा हों। यहाँ रूप-साम्य ही कवि की उत्प्रेक्षा का आधार है।

२—हेतूत्प्रेक्षा—जहाँ अहेतु में हेतु की सम्भावना की जाती है, वहाँ हेतूत्प्रेक्षा होती है।

उदाहरण

पावकमय ससि स्रवत न आगी।
मानहुँ मोहि जानि हत भागी॥

—रामचरित-मानस

यहाँ चन्द्रमा से अग्नि न चूने पर सम्भावना की गई है कि सीता के 'हतभागी' होने के कारण चन्द्रमा आग नहीं बरसाता। अर्थात् अहेतु में हेतु की सम्भावना की गई है।

३—फलोत्प्रेक्षा—जहाँ अफल में फल की सम्भावना की जाय, अर्थात् जो फल न हो उसमें फल का आरोप किया जाय।

उदाहरण

'तव मुख-समता को कमल जल सेवत इक पाँय।'

यहाँ कमल के जल में निवास करने पर इस फल की सम्भावना की गई है कि वह सुन्दरी के मुख की सुन्दरता प्राप्त करने के लिए जल में तपस्या कर रहा है।

गम्योत्प्रेक्षा

जहाँ उत्प्रेक्षा के वाचक शब्द के प्रयोग के बिना ही उपमेय में उपमान की सम्भावना की जाती है, वहाँ गम्योत्प्रेक्षा या प्रतीयमान उत्प्रेक्षा होती है।

उदाहरण

चाँदनी नभ और भूधर
चाँदनी तरु - पात;
निशि-तमी घुल बन गई
है चाँदनी नवजात।

—छत्रसाल (मुगल-शिविर)

चारों ओर फैली चाँदनी में अन्धकार का कहीं लेश न देख कर यह सम्भावना की गई है कि 'तमी' भी आज चाँदनी बन गई है।

अतिशयोक्ति

जहाँ उपमेय की अत्यन्त प्रशंसा के लिए लोक-सीमा के बाहर की कोई बात कही जाती है, वहाँ अतिशयोक्ति अलंकार होता है।

इसके सात भेद कहे गए हैं, किन्तु प्रमुख भेद तीन ही हैं—

(१) भेदकातिशयोक्ति, (२) अक्रमातिशयोक्ति और (३) रूपकातिशयोक्ति।

१—भेदकातिशयोक्ति

जहाँ उपमेय और उपमान में भेद न होने पर भी उपमेय की विशेषता सूचित करने के लिए उसे उपमानों से भिन्न बताया जाय, वहाँ भेदक अतिशयोक्ति होती है।

(१) उदाहरण

दीरघ अनियारे दृगनि, किती न तरुनि समान।
वे नैना औरै कछू, जिहिं बस होत सुजान॥

—बिहारी

विशाल और नुकीले सभी नेत्र समान होते हैं। किन्तु इस दोहे में कवि ने अपनी प्रस्तुत नायिका के नेत्रों को 'औरै कछू' कह कर औरों से उनकी भिन्नता और विशेषता प्रकट की है।

(२) उदाहरण

अम्बर तें अति ऊँची वहै अरु ऊँड़ी रसातल हू तें अथारी।
तूहिन[1] के गिरि तें अति सीतल, पावक तें अति जारनिहारी॥
माहुर[2] तें कटु, मीठी सुधाहु तें, झोनी अनू[3] तें, सुमेरु तें भारी।
जानत जान, अजान न जानत, 'सागर' बात सनेह की न्यारी॥

२—अक्रमातिशयोक्ति

जहाँ कारण और कार्य का क्रम से वर्णन न करके दोनों का एक साथ ही हो जाना कहा जाय, वहाँ अक्रमातिशयोक्ति होती है।

१—बर्फ। २—विष। ३—अणु, कण।

(१) उदाहरण

उत गँकार मुख ते कढ़ी, इत निकसी जमधार।
'वार' कहन पायो नहीं, भई कलेजे पार॥

वीरवर अमरसिंह राठौर को बादशाह का साला सलावत खाँ 'गँवार' कहने वाला था। उसके मुँह से ज्यों ही 'गँ' अक्षर निकला त्यों ही राठौर की तलवार ने उसका काम तमाम कर दिया और वह 'वार' कह भी न सका। यहाँ कारण और कार्य का आगे-पीछे होना न कह कर दोनों का एक साथ हो जाना कहा गया है।

(२) उदाहरण

गज के मुँह ते कढ़त ही, हरि को नाम ललाम।
ग्राह-प्रान तन तें कढ़्यौ, गज पहुँच्यौ निज धाम॥

यहाँ गजराज के मुँह से हरि-नाम का उच्चारण होने के साथ ही ग्राह का प्राण तजना-रूप कार्य का होना कहा गया है।

सूचना—चपलातिशयोक्ति और अत्यन्तातिशयोक्ति इसी अक्रमातिशयोक्ति के ही स्वरूप हैं। आचार्य मम्मट ने इसीलिए अतिशयोक्ति के केवल चार ही भेद किए जब कि आगे के आचार्यों ने इसके सात भेद कर डाले हैं।

३—रूपकातिशयोक्ति

जहाँ उपमान उपमेय को इस प्रकार छिपा या निगल ले कि उपमेय का उपमान से पृथक् अस्तित्व ही न दिखाई दे, किन्तु अर्थ करते समय उपमान द्वारा निगले गए उपमेय बाहर निकलते जायँ, वहाँ रूपकातिशयोक्ति होती है।

उदाहरण

अद्भुत एक अनूपम बाग।
जुगल कमल पर गजवर क्रीडत, तापर सिंह करत अनुराग॥
हरि पर सरवर, सर पर गिरिवर, गिरि पर फूले कंज, पराग॥

यहाँ राधा का नख-शिख वर्णन करते हुए सूरदास ने उनके अंगों के केवल उपमानों को ही क्रम से प्रस्तुत किया है।

प्रतिवस्तूपमा

जहाँ उपमेय और उपमान दोनों वाक्यों का एक ही साधारण धर्म भिन्न-भिन्न शब्दों द्वारा कहा जाय, वहाँ प्रतिवस्तूपमा होती हैं।

उदाहरण

तजत न सज्जन बाँह गहि, कियौ जु अंगीकार।
अंक मयंक, भुजंग भव, धरत धरनि मल-भार॥

यहाँ ऊपर के वाक्य का धर्म 'तजत न' और नीचे के वाक्य का धर्म 'धरत' दोनों एक ही हैं, जो भिन्न-भिन्न शब्दों में कहे गए हैं।

दृष्टान्त

जहाँ उपमेय और उपमान वाक्यों एवं उनके धर्मों में बिम्ब-प्रतिबिम्ब भाव हो, वहाँ दृष्टान्त अलंकार होता है।

भरतहि होइ न राज-मद, बिधि-हरि-हर-पद पाइ।
कबहुँ कि कांजी-सीकरन्हि, छीर-सिन्धु बिनसाइ॥

—रा० च० मा०

यहाँ उपमेय और उपमान दोनों वाक्यों तथा 'राजमद न होना' और 'न बिनसाना'–उनके धर्मों में बिम्ब-प्रतिबिम्ब भाव दिखलाया गया है। इसलिए यहाँ दृष्टान्त हुआ।

सूचना—इसमें दोनों वाक्य या तो सामान्य होंगे अथवा दोनों विशेष। एक सामान्य और दूसरा विशेष नहीं होगा।

निदर्शना

जहाँ उपमेय और उपमान वाक्यों के अर्थों में सर्वथा भिन्नता होते हुए भी दोनों में उपमा की कल्पना की जाय, वहाँ निदर्शना होती है।

इसके तीन भेद कहे गए हैं—

प्रथम निदर्शना

जहाँ जे-ते, जो-सो आदि वाचक शब्दों द्वारा उपमेय और उपमान वाक्यों के समान अर्थों में अभेद-सम्बन्ध आरोपित किया जाय। इसे 'वाक्यार्थ वृत्ति' निदर्शना कहते हैं। यथा—

जे असि भगति जानि परिहरहीं। केवल ग्यान हेतु स्रम करहीं।
ते जड़ कामधेनु गृह त्यागी। खोजत आकु फिरहिं पय लागी॥

—रा० च० मा०

यहाँ दोनों वाक्यों में असम्भव सम्बन्ध होने पर भी एकता स्थापित की गई है। जे-ते वाचक द्वारा यह कल्पना की गई है।

द्वितीय निदर्शना

जहाँ उपमेय के गुण का उपमान में अथवा उपमान के गुण का उपमेय में आरोप किया जाय। इसे 'पदार्थ वृत्ति' निदर्शना कहते हैं। यथा—

उपमेय के गुणों का उपमान में आरोप

जेहि दिन दसन जोति निरमई। बहुतै जोति-जोति ओहि भई।
रबि-ससि-नखत दिपहिं ओहिं जोती। रतन, पदारथ, मानिक, मोती॥

—पद्मावत

पद्मावती के दाँतों की ज्योति का आरोप रवि, शशि, नक्षत्र, रत्नादिकों में किया गया है।

तृतीय निदर्शना

जहाँ किसी की सत् या असत् क्रिया द्वारा अच्छी अथवा बुरी शिक्षा दी जाय, वहाँ तृतीय निदर्शना होती है।

उदाहरण

तजि आसा तन-प्रान की, दीपहिं मिलत पतंग।
दरसावत सब नरन को, परम प्रेम को ढंग॥

यहाँ प्रेम-पथ पर चल कर सुखपूर्वक प्राण तजने की शिक्षा पतंग द्वारा दी गई है।

व्यतिरेक

जहाँ उपमेय में उत्कर्ष अथवा उपमान में अपकर्ष दिखाकर उपमेय की विशेषता प्रकट की जाय, वहाँ व्यतिरेक अलंकार होता है।

उदाहरण

सिवराज साहिसुव सत्थ नित, हय गय लक्खन संचरइ।
यक्कइ गयन्द, यक्कइ तुरग, किमि सुरपति सरवरि करइ॥

—शिवराज-भूषण

यहाँ शिवाजी के पास लाखों हाथी, घोड़े दिखा कर एक ही हाथी और एक हो घोड़े वाले इन्द्र से विशेषता प्रकट की गई है।

सहोक्ति

जहाँ सह, साथ, समेत आदि वाचक शब्दों द्वारा एक ही क्रिया-पद दो अर्थों का (एक का प्रधान और दूसरे का गौण रूप से) बोधक हो, वहाँ सहोक्ति होती है।

(१) उदाहरण

दक्खिन के सूबे पाय दिल्ली के अमीर तजैं,
उत्तर की आस, जीव आस एक संग ही।

—शिवराज-भूषण

यहाँ एक ही 'तजैं' क्रिया-पद उत्तर की आस और जीव-आस दोनों का पूरक या बोधक है।

(२) उदाहरण

जनकराज के राज में, पहुँच रमापति आप।
परसुराम के गर्व सँग, भंज्यो हर को चाप॥

परिकर

जहाँ विशेष्य के साथ सभिप्राय विशेषण दिए जायँ वहाँ परिकर होता है।

उदाहरण

ससि-बदनी तासौं कहत, सो यह साँची बात।
नैन-नलिन ये रावरे, न्याय निरखि नै जात॥

यहाँ नायिका को 'ससि-बदनी' विशेषण देना साभिप्राय है, क्योंकि जिस प्रकार चन्द्रमा को देखकर कमल नीचे की ओर झुक जाते हैं, उसी प्रकार मुख को देखकर नेत्रों का झुक जाना कहा गया है।

———

परिकरांकुर

जहाँ विशेष्य का प्रयोग साभिप्राय हो, वहाँ परिकरांकुर होता है।

उदाहरण

कियौ सबै जग कामबस, जीत्यो जिते अजेइ।
कुसुमसरहि सर-धनुष कर, अगहन गहन न देइ॥ —बिहारी

यहाँ 'अगहन' विशेष्य का प्रयोग कवि ने साभिप्राय किया है, अर्थात् जो 'ग्रहण' करने न दे। यहाँ अगहन कामदेव को धनुष और बाण पकड़ने नहीं देता।

(२) उदाहरण

हौ मनमोहन, मोहे कहूँ न,
बिथा बिमनैन की मानौ कहा तुम ?
—घन आनंद

यहाँ 'मनमोहन' शब्द साभिप्राय है अर्थात् जिसके मन में मोह न हो।

———

अन्योक्ति

जहाँ केवल अप्रस्तुत के वर्णन द्वारा प्रस्तुत का बोध कराया जाय, वहाँ अन्योक्ति होती है।

(१) उदाहरण

मधुकर हम न होहिं वे बेली।
जिनको तुम तजि भजत प्रीति बिनु करत कुसुम-रस-केली॥

—सूरसागर

यहाँ गोपियाँ मधुकर के प्रति अपनी बात कह कर कृष्ण के आचरण का बोध कराती हैं।

(२) उदाहरण

नहिं पराग, नहिं मधुर मधु, नहिं बिकासु यहिं काल।
अली, कली ही तें बँध्यौ, आगे कौन हवाल॥—बिहारी

यहाँ कविवर बिहारी ने भौंरे को वाच्य रूप में अभिहित करके महाराज जयसिंह को उनकी यथार्थ स्थिति का बोध कराया है, जो अपनी छोटी रानी के प्रेम में पड़े राज्य-कार्य छोड़ बैठे थे।

तुल्ययोगिता

जहाँ अनेक धर्मों का तुल्ययोग या एकत्व हो, वहाँ तुल्ययोगिता होती है। परवर्ती आचार्यों ने इसके तीन प्रकार बतलाए हैं।

प्रथम तुल्ययोगिता

जहाँ अनेक प्रस्तुतों अथवा अनेक अप्रस्तुतों (उपमानों) का एक ही धर्म कहा जाय।[1]

१—नियतानां सकृद्धर्मः सा पुनस्तुल्योगिता।—काव्यप्रकाश, १०।१०४

पदार्थानाम्प्रस्तुतानामन्येषां वा यदा भवेत्।
एक धर्माभिसम्बन्धः स्यात्तदा तुल्ययोगिता॥

—साहित्यदर्पण, १०।४७, ४८

(क) अनेक उपमेयों को धर्मैकता

उदाहरण

संग ते जती, कुमंत्र ते राजा। मान ते ग्यान, पान ते लाजा॥
प्रीति प्रनय बिनु मद ते गुनी। नासहिं बेगि नीति अस सुनी॥
—रा० च० मा०

यहाँ जती, राजा, ग्यान, लाज, प्रीति और गुनी सबका एक धर्म, 'नासहिं' कहा गया है।

(ख) अनेक अप्रस्तुतों को धर्मैकता

उदाहरण

कुन्द कली दाड़िम दामिनी। सरद कमल ससि अहि-भामिनी।
श्रीफल कनक कदलि हरषाहिं। नेकु न संक सकुच मन माहीं॥
—रा० च० मा०

यहाँ कुन्द-कली, दाड़िम, दामिनी, सरद-कमल, सरद-ससि, अहि-भामिनी, श्रीफल, कनक और कदली सबका एक धर्म 'हरषाहीं' कहा गया है।

द्वितीय तुल्ययोगिता

जहाँ शत्रु और मित्र (सज्जन और असज्जन) दोनों के साथ तुल्य व्यवहार का कथन हो।

विवक्षितगुणोत्कृष्टैर्यत्समीकृत्य कस्यचित्।
कीर्त्तनं स्तुतिनिन्दार्थं सा मता तुल्ययोगिता॥—काव्यादर्श, २।३३०

इस प्रकार प्राचीन आचार्यों ने द्वितीय तुल्ययोगिता को ही तुल्ययोगिता माना था। अप्पय दीक्षित आदि परवर्ती आचार्यों ने उसके तीन प्रकार खोज निकाले।
—'लेखक'

उदाहरण

बंदउँ संत समान चित, हित-अनहित नहिं कोइ।
अंजलिगत सुभ सुमन जिमि, सम सुगंध कर दोइ॥

—रा० च० मा०

यहाँ शुभ सुमन का दाहिने और बाएँ दोनों हाथों के साथ समान व्यवहार दिखाया गया है।

तृतीय तुल्ययोगिता

जहाँ उत्कृष्ट गुणवाले अनेक उपमानों के साथ मिलाकर उपमेय का भी वर्णन किया जाय।[1]

उदाहरण

भोज विक्रमादित्य नृप, जगदेवो रनधीर।
दानिन हूँ के दानि दिन, इन्द्रजीत बर बीर॥—केशवदास

यहाँ कविवर केशवदास ने भोज, विक्रमादित्य और जगदेव जैसे महादानियों में अपने आश्रयदाता इन्द्रजीत को भी गिनाया है।

दीपक

जहाँ प्रस्तुत और अप्रस्तुत दोनों का एक क्रिया-रूप धर्म कहा जाय, वहाँ दीपक होता है।[2]

१—गुणोत्कृष्टैः समीकृत्य वचोऽन्या तुल्ययोगिता।
लोकपालो यमः पाशी श्रोदः शक्रो भवानपि॥—कुवलयानन्द, ४७

२—उपमेयोपमानेष्वेका क्रिया दीपकम्।—काव्यालङ्कारसूत्र
—अथ कारकमेकं स्यादनेकासु क्रियासु चेत्।—सा० द०, १०।४६
—सकृद्वृत्तिस्तु धर्मस्य प्रकृताप्रकृतात्मनाम्।
सैव क्रियासु बह्वीषु कारकस्येति दीपकम्॥—काव्यप्रकाश, १०।१०३

उदाहरण

कामिनि कंत सों, जामिनि चंद सों, दामिनि पावस मेघ-घटा सों।
कीरति दान सों, सूरति ज्ञान सों, प्रीति बड़ी सनमान महा सों।
'भूषन' भूषन सों तरुनी, नलिनी नव पूषन देव-प्रभा सों।
जाहिर चारिहु ओर जहान लसै हिंदुआन खुमान सिवा सों॥

—शिवराज-भूषण

यहाँ सभी उपमान और उपमेय (हिन्दुआन) का एक ही 'लसै' क्रिया-रूप धर्म कहा गया है। इसे 'क्रियादीपक' भी कहा जा सकता है।

कारक दीपक

जहाँ अनेक क्रियाओं का एक ही कारक कहा जाय, वहाँ कारक दीपक होता है। अर्थात् जहाँ कर्त्ता, कर्म, करण, सम्प्रदान, अपादान और अधिकरण इनमें किसी एक से भी अनेक क्रियाओं का सम्बन्ध दिखाया जाय, कारक दीपक होता है।

उदाहरण

बता अरी अब क्या करूँ, रुपी रात से रार।
भय खाऊँ, आँसू पियूँ, मन मारूँ झख मार॥ —साकेत

यहाँ भय खाऊँ, आँसू पियूँ आदि क्रियाओं का सम्बन्ध उर्मिला (कर्त्ता) से है।

आवृत्ति दीपक

जहाँ क्रिया-पद की आवृत्ति हो, वहाँ आवृत्ति दीपक होता है। इसके तीन भेद होते हैं, (१) पदावृत्ति, (२) अर्थावृत्ति और (३) पदार्थावृत्ति।

१. पदावृत्ति—जहाँ एक ही क्रिया-पद भिन्न-भिन्न अर्थों में अनेक बार प्रयुक्त हो।

उदाहरण

जागत हौ तुम जगत में, भावसिंह बर बान।
जागत गिरिवर-कंदरनि, तव अरि तजि अभिमान॥

यहाँ पहले 'जागत' का अर्थ है, 'तेज से प्रकाशित हो रहे' और दूसरे 'जागत' का अर्थ है, 'सोते नहीं' (चिन्ता, भय आदि के कारण)।

२. अर्थावृत्ति—जहाँ एकार्थवाची अनेक क्रिया-पदों की आवृत्ति हो।

उदाहरण

प्रानप्यारे-चित्त में निवास प्रानप्यारी करै,
प्रानप्यारो बसत हिये में प्रानप्यारी के॥—रस-कलस

यहाँ 'बसत' और 'निवास करै' दोनों का अर्थ एक ही है।

३. पदार्थावृत्ति—जहाँ एक ही क्रिया एक हो अर्थ में बार-बार आती है।

उदाहरण

अलि कहाँ सन्देश भेजूँ?
मैं किसे सन्देश भेजूँ?
एक सुधि अनजान उनकी,
दूसरा पहचान मन की,
पुलक का उपहार दूँ या
अश्रु-भार अशेष भेजूँ! —दीपशिखा

यहाँ 'भेजूँ' क्रिया की एक ही अर्थ में अनेक बार आवृत्ति हुई है।

मालादीपक

जहाँ प्रस्तुत और अप्रस्तुत की एक ही क्रिया का गृहीत-मुक्त रीति से व्यवहार किया जाता है, वहाँ मालादीपक होता है।[1]

उदाहरण

घन में सुन्दर बिजली सी,
बिजली में चपल चमक-सी,
आँखों में काली पुतली,
पुतली में श्याम झलक-सी,
प्रतिमा में सजीवता-सी
बस गई सुछवि आँखों में।

—आँसू ('प्रसाद')

यहाँ गृहीत-मुक्त रीति से प्रयुक्त उपमेयों और उपमानों की एक ही क्रिया 'बस गई' कही गई है।

यथासंख्य

जहाँ पहले कहे गए पदार्थों का उत्तर-कथित धर्मों से उसी क्रम से सम्बन्ध हो, वहाँ यथासंख्य अलंकार होता है। इसे 'क्रम' अलंकार भी कहते हैं।

उदाहरण

निसर्ग ने, सौरभ ने, पराग ने
प्रदान की है अति कान्त भाव से।
वसुन्धरा को, पिक को, मिलिन्द को
मनोज्ञता, मादकता, मदान्धता ॥—प्रियप्रवास

१—मालादीपकमद्यं' चेद्यथोत्तरगुणावहम्।—का० प्र०, १०। १०४

यहाँ प्रथम, तृतीय और चतुर्थ चरणों में कथित तीनों पदार्थों का उसी क्रम से सम्बन्ध भी है। निसर्ग ने वसुन्धरा को मनोज्ञता दी है, सौरभ ने पिक को मादकता दी है और पराग ने मिलिन्द को मदान्धता दी है।

—:❀:—

विभावना

जहाँ कारण के अभाव में कार्य का हो जाना कहा जाय वहाँ विभावना होती है।

विमर्श—आद्य आलंकारिक आचार्य भामह ने कहा है—'क्रिया का प्रतिषेध होने पर भी जहाँ फल का विभावन हो वहाँ विभावना होती है।' आचार्य भामह के ही शब्दों को आचार्य भट्टोद्भट ने भी इसके लक्षण में दुहरा दिया है[1]। पहले के आलङ्कारिकों ने इसके दो भेद किए हैं, (१) उक्तनिमित्ता और (२) अनुक्तनिमित्ता।

बाद के आचार्यों ने इसके छः भेद माने हैं—

प्रथम विभावना[2]—जहाँ कारण के अभाव में कार्य का हो जाना कहा जाय।

उदाहरण

जहाँ जहाँ ठाढ़यो लख्यौ, स्याम सुभग सिरमौर।
उनहूँ बिन छिन गहि रहत, दृगनि अजौं वह ठौर॥— बिहारी

१—क्रियायाः प्रतिषेधे या तत्फलस्य विभावना।
ज्ञेया विभावनैवासौ समाधौ सुलभे सति॥—काव्यालंकार, २।७७
और काव्यालंकारसार-संग्रह, २।९(३२)

२—कारणाभावे कार्योत्पत्तिर्विभावना।—अलंकार-सर्वस्व

दर्शनीय श्याम के बिना भी आँखों का उनसे सम्बद्ध स्थानों से लिपट जाना कहा गया है।

द्वितीय विभावना—जहाँ अधूरे कारण से ही कार्य का पूर्ण होना कहा जाय।

उदाहरण

त्रिजटा कहति तुलसीस्वरी सों बार-बार
राघौ बान एक ही समुद्र सातौ सोषिहै।
—कवितावली

सात समुद्रों को सोखने के लिए एक ही बाण-रूप अपूर्ण कारण कहा गया है।

तृतीय विभावना—जहाँ कारण का प्रतिबन्धक या विरोधी होने पर भी कार्य हो जाय।

उदाहरण

लाज-लगाम न मानहीं, नैना मो बस नाहिं।
ये मुँहजोर तुरंग-लौं, ऐंचत हू चलि जाहिं॥—बिहारी

यहाँ प्रयत्नपूर्वक रोकने पर भी आँखों का कृष्ण की ओर चला जाना-रूप कार्य का होना कहा गया है।

चतुर्थ विभावना—जो जिस कार्य का उत्पादक कारण नहीं है, उससे जहाँ कार्य का पूर्ण होना कहा जाय।

उदाहरण

काम कुसुम - धनु - सायक लीन्हें।
सकल भुवन अपने बस कीन्हें॥
—रामचरित-मानस

भुवनों पर विजय प्राप्त की जाती है प्रचण्ड एवं कठिन वस्तु से निर्मित धनुष और लौह-निर्मित बाणों से, किन्तु यहाँ फूल से बने धनुष और बाणों से त्रिभुवन-विजय-रूप कार्य का पूर्ण होना कहा गया है।

पंचम विभावना—जहाँ विरोधी कारण से कार्य की पूर्णता कही जाय।

उदाहरण

ता दिन अखिल खलभलैं खल खलक में
जा दिन सिवाजी गाजी नेक करखत हैं।
सुनत नगारन अगार तजि अरिन की,
दार-गन भाजत न बार परखत हैं।
छूटे बार बार छूटे बारन ते लाल देखि
'भूषन' सुकवि बरनत हरषत हैं।
क्यों न उतपात होय बैरिन के झुंडन में,
कारे घन उमड़ि अँगारे बरषत हैं॥

—शिवराज-भूषण

यहाँ काले बादलों से पानी की जगह अग्नि-वर्षा दिखाई गई है।

षष्ठ विभावना—जहाँ कार्य से कारण की उत्पत्ति कही जाय।

उदाहरण

'भूषन' भनत तेरो दान-संकलप जल,
अचरज सकल मही पै लपटत है।
और नदी-नदन तें कोकनद होत,
तेरो कर-कोकनद नदी-नद प्रगटत है॥

—शि० भू०

यहाँ कर-कमल से गिरने वाले दान के संकल्प-जल से नदी-नद की उत्पत्ति कही गई है, जब कि नदी-नद से ही कमल उत्पन्न होता है।

विरोधाभास या विरोध

जहाँ वस्तुतः विरोध न हो, किन्तु विरोध-सा प्रतीत हो, वहाँ 'विरोधाभास' या 'विरोध' नामक अलंकार होता है।[1]

यह विरोध जाति, गुण, क्रिया और द्रव्य में परस्पर होता है। इस प्रकार इसके दस भेद हो जाते हैं[2]—

(१) जाति का जाति से विरोध, (२) जाति का गुण से विरोध, (३) जाति का क्रिया से विरोध, (४) जाति का द्रव्य से विरोध, (५) गुण का गुण से विरोध, (६) गुण का क्रिया से विरोध, (७) गुण का द्रव्य से विरोध, (८) क्रिया का क्रिया से विरोध, (९) क्रिया का द्रव्य से विरोध और (१०) द्रव्य का द्रव्य से विरोध।

(१०) जाति का जाति से विरोध

उदाहरण (१)

अन्तर मैं वासी पै प्रवासी कैसो अंतर है,
मेरी न सुनत, दैया! आपनीयौ ना कहै।

—घन आनन्द

१—विरुद्धाभासत्वं विरोधः।—अलङ्कारसर्वस्व, पृ० १५४

२—जातिश्चतुर्भिर्जात्याद्यैर्गुणो गुणादिभिस्त्रिभिः॥
क्रिया क्रियाद्रव्याभ्यां यद् द्रव्यं द्रव्येण वा मिथः।
विरुद्धमिव भासेत विरोधोऽसौ दशाकृतिः॥
—साहित्यदर्पण, परि० १०।

'वासी' (निवास करने वाला) होने पर भी 'प्रवासी' अर्थात् परदेशी-सा दूर रहता है। यह है जाति से जाति का विरोध।

उदाहरण (२)

'है के द्विजराज काज करत कसाई के।'

है 'द्विजराज' और काज करता है 'कसाई' का !

(२) जाति का गुण से विरोध

उदाहरण

जहँ असोक तहँ सोक बस, है न सियहि निज बोध।

—पद्माभरण

यहाँ 'अशोक' वृक्ष की जाति-विशेष है और शोक है गुण। जाति से गुण का विरोध स्पष्ट ही है।

(३) जाति का क्रिया से विरोध

उदाहरण

साहि-तनै तव तेज-कृसानु तें बैरि गरे सब पानिपवारे।
एक अचंभव होत बड़ो तिन ओठ गहे अरि जात न जारे॥

—शिवराज-भूषण

यहाँ 'कृसानु' (अग्नि) जाति से 'जात न जारे' क्रिया का विरोध दिखाया गया, जो वस्तुतः विरोध नहीं है, क्योंकि तृण ओठ पर धरने का अभिप्राय है—शरणागत होना।

(४) जाति का द्रव्य से विरोध

उदाहरण

नहीं अब रुकती है झंकार,
यही था हा ! क्या एक सितार ?

हुई मरु की मरीचिका आज,
मुझे गंगा की पावन धार !--पल्लव

यहाँ 'मरु की मरीचिका' जाति का 'गंगा की पावन धार' द्रव्य से विरोध दिखलाया गया है।

(५) गुण का गुण से विरोध

उदाहरण

श्री सरजा सिव तो जस सेत सों होत हैं बैरिन के मुँह कारे।
'भूषन' तेरे अरुन्न प्रताप सपेत लखे कुनबा नृप सारे॥
—शिवराज-भूषण

यहाँ 'जस' (यश) गुण है, इससे 'बैरियों का मुँह काला होना' रूप गुण का विरोध दिखाया गया है।

(६) गुण का क्रिया से विरोध

उदाहरण

वियोगी होगा पहिला कवि,
आह से उपजा होगा गान,
उमड़ कर आँखों से चुपचाप
बही होगी कविता अनजान।—पल्लव

यहाँ 'आह' गुण से 'गान उपजना' क्रिया का विरोध स्पष्ट है, यद्यपि यह विरोध यथार्थतः है नहीं।

(७) गुण का द्रव्य से विरोध

छिः सरल सौन्दर्य ! तुम सचमुच बड़े
निठुर औ नादान हो !.....

× × ×

तुम मिचौनी खेलकर कितना गहन
घाव करते हो सुमन से हृदय में

—'ग्रन्थि'

यहाँ 'सौन्दर्य' गुण का 'घाव' रूप द्रव्य से विरोध दिखाया गया है।

(८) क्रिया का क्रिया से विरोध

हैं फूल फूल जाते मधु में, सुरभित मलयानिल बहती है,
सब लता-वल्लियाँ खिलती हैं, बस तू मुरझाई रहती है॥

—मानवी

यहाँ 'मलयानिल के बहने' से 'मुरझाना' क्रिया का विरोध दिखाया गया है।

(९) क्रिया का द्रव्य से विरोध

(१) उदाहरण

वायु के झकोरे से बन की लताएँ सब
झुक जातीं—नजर बचाती हैं—
अंचल से मानों हैं छिपाती मुख
देख यह अनुपम स्वरूप मेरा।

—परिमल (पंचवटी-प्रसंग)

नारी-स्वरूप (द्रव्य) से नारियों का (लताओं) 'झुक जाना, 'नजर बचाना' क्रिया का विरोध दिखाया गया है।

(२) उदाहरण

कुवलय - बिपिन कुन्त - बन - सरिसा।
बारिद तप्त - तैल जनु बरिसा॥

—रामचरित-मानस

यहाँ 'बारिद' द्रव्य से 'तप्त तेल बरसना' क्रिया का विरोध दिखलाया गया है।

(१०) द्रव्य का द्रव्य से विरोध

उदाहरण

जे हित रहे करत तेइ पीरा।
उरग-स्वास सम त्रिबिध समीरा॥

—रा० च० मा०

'उरग-स्वास' (साँप की विषैली साँस) रूप द्रव्य से 'त्रिविध समीर' रूप द्रव्य का विरोध दिखाया गया है।

विशेषोक्ति

जहाँ पूर्ण कारण के होने पर भी कार्य न हो, वहाँ विशेषोक्ति होती है।

इसके तीन भेद होते हैं—(१) उक्तनिमित्ता, (२) अनुक्त-निमित्ता और (३) अचिन्त्यनिमित्ता।

१. उक्तनिमित्ता—जहाँ कार्य न होने का निमित्त-विशेष कह दिया जाय।

उदाहरण

फूलइ फलइ न बेत, जदपि सुधा बरसहिं जलद।
मूरख हृदय न चेत, जो गुरु मिलहिं बिरंचि सम॥

—रा० च० मा०

विरंचि-सा शिक्षक, फिर भी आँखें नहीं खुलतीं। इसका निमित्त 'मूर्खता' कह दिया गया है।

२. अनुक्तनिमित्ता—जहाँ कार्य न होने का निमित्त अन-कहा हो।

उदाहरण

सोवत जागत सपन-बस, रस रिस चैन कुचैन।
सुरति स्याम-घन की सुरति, बिसरे हू बिसरै न॥

—बिहारी

यहाँ अन्य मनोभावों के कारण-रूप में उपस्थित होने पर भी नायिका को कृष्ण की विस्मृति नहीं होती। निमित्त अनकहा रह गया है।

३. अचिन्त्यनिमित्ता—जहाँ कार्य न होने का निमित्त अचिन्त्य हो।

उदाहरण

लेत चढ़ावत खैंचत गाढ़े। काहु न लखा देख सब ठाढ़े॥

देखते हुए भी पिनाक को लेते, चढ़ाते, खींचते किसी ने देखा नहीं, निमित्त अचिन्त्य है।

काव्यलिङ्ग

जहाँ समर्थन के योग्य कही गई बात का ज्ञापक कारण द्वारा समर्थन किया जाय, वहाँ काव्यलिङ्ग होता है।

उदाहरण

श्री पुर तें, बन मध्य मैं, तैं मग करी अनीति।
री मुँदरी अब तियन को, करिहै को परतीति॥

—रामचन्द्रिका

यहाँ सीता जी भगवान् राम की अंगूठी को अचानक पाकर उससे कहती हैं; 'हे मुँदरी! अब स्त्रियों का विश्वास कौन करेगा?' यह कथन समर्थन की अपेक्षा रखता है, कि क्यों कोई स्त्रियों का विश्वास नहीं करेगा। इसका समर्थन इस ज्ञापक या सूचक वाक्य द्वारा किया गया है—'राम जब अयोध्या से चले तब लक्ष्मी ने साथ छोड़ दिया, वन के बीच मैंने उनका साथ छोड़ दिया और स्त्री-जाति की एकमात्र तू ही उनके साथ रह गई थी, अब तूने भी उनका साथ छोड़ दिया।' विपत्ति के दिनों में सभी स्त्रियों ने राम का साथ छोड़ दिया, अतः सिद्ध हुआ कि स्त्रियाँ विश्वसनीय नहीं होतीं। यहाँ ज्ञापक कारण द्वारा कथितार्थ का समर्थन है।

विमर्श—कारण दो प्रकार के होते हैं। अग्निपुराण में कहा गया है—

सिषाधयिषितार्थस्य हेतुर्भवति साधकः।
कारको ज्ञापकश्चेति द्विधा सोऽप्युपदिश्यते॥

अर्थात् प्रथम कारण है साधक, जो किसी कार्य को सम्पन्न करे, इसी को उत्पादक भी कहते हैं। द्वितीय कारण है ज्ञापक, जो किसी कार्य के होने का सूचना दे। जैसे धुएँ से अग्नि के होने की सूचना मिलती है। काव्यलिङ्ग अलंकार में यही ज्ञापक कारण समर्थनीय कथितार्थ का समर्थन करता है।

—:o:—

स्वभावोक्ति

जहाँ मनुष्य, पशु आदि जाति की सहृदय-संवेद्य, अर्थात सहृदयों द्वारा ही रसास्वादन के योग्य, स्वाभाविक क्रिया या चेष्टा और रूप का वर्णन हो, वहाँ स्वभावोक्ति होती है।

उदाहरण

ठाढ़ भए उठि सहज सुभाएँ। ठवनि जुवा मृगराज लजाएँ।

× × ×

गुर-पद बन्दि सहित अनुरागा। राम मुनिन सन आयसु माँगा॥
सहजहिं चले सकल जग स्वामी। मत्त मंजु बर कुंजर-गामी॥

—रामचरित-मानस

यहाँ गुरु विश्वामित्र की आज्ञा से रामचन्द्र के सिंह के समान खड़े होने, गुरु-चरणों की वन्दना करने, मुनियों से आज्ञा माँगने और मत्त गजराज के सदृश धनुष की ओर चल पड़ने का स्वाभाविक चित्रण किया गया है। अतः यहाँ स्वभावोक्ति हुई।

विमर्श—मम्मट आदि प्राचीन आचार्यों ने इसे अलङ्कार नहीं माना, क्योंकि किसी की स्वाभाविक चेष्टा और रूप उद्दीपन विभाव के अन्तर्गत आते हैं, जो रस के आन्तर अंग हैं, बाह्य अलङ्करण मात्र नहीं। आचार्य रामचन्द्र शुक्ल का मत भी यही है। कतिपय आलङ्कारिकों ने इसी को 'जाति' अलङ्कार कहा है।

———

समासोक्ति

जहाँ विशेषणों की समता से प्रस्तुत या वर्णनीय के अतिरिक्त अप्रस्तुत या अवर्णनीय की भी सूचना मिले, वहाँ समासोक्ति होती है—

यह दो प्रकार की होती है—

(१) श्लिष्ट या वाच्य शब्दों द्वारा और (२) गम्य शब्दों द्वारा।

१—श्लिष्ट शब्दों द्वारा

उदाहरण

बड़ो डील लखि पील को, सबनि तज्यो बन-थान।
धनि सरजा तू जगत में, ताको हन्यो गुमान॥

—शिवराज-भूषण

यहाँ 'सरजा' शब्द श्लिष्ट है, जिसका एक अर्थ है 'सिंह' और दूसरा अर्थ है 'शिवाजी'। 'सरजा' (शर्जः) शिवाजी की उपाधि थी। सिंह और हाथी के अतिरिक्त दूसरा अर्थ यह निकलता है कि शिवाजी ने सम्राट् औरंगजेब का अभिमान चूर कर दिया।

२—गम्य शब्दों के द्वारा

तज्यो आँच अति बिरह की, रह्यो प्रेम-रस भीजि।
नैननि के मग जल बहै, हियो पसीजि-पसीजि॥

—बिहारी

यहाँ विरह-अग्नि में तप कर हृदय का प्रेम-रस से भींगना और उसी रस का आँखों से आँसू के रूप में बह निकलना प्रस्तुतार्थ है। इस सांकेतिक वर्णन के द्वारा किसी वस्तु के, रासायनिक क्रिया से, 'अर्क निकालने' की विधि की भी सूचना मिलती है।

असङ्गति

जहाँ कारण कहीं अन्यत्र उपस्थित हो और कार्य कहीं प्रत्यत्र हो जाय, वहाँ असंगति होती है।

उदाहरण

दृग उरझत, टूटत कुटुम, जुरत चतुर चित प्रीति।
परति गाँठि दुर्जन हियें, दई नई यह रीति॥

—बिहारी

यहाँ कारण कहीं और, तथा कार्य कहीं और दिखाया गया है।

व्याजस्तुति

जहाँ निन्दा से स्तुत प्रकट हो, वहाँ व्याजस्तुति अलंकार होता है।

उदाहरण

हौं तो पंचभूत तजिबे को तक्यो तोहि, पर
तैं तो कन्यो मोहिं भलो भूतन को पति है।
कहै 'पदमाकर' सु एक तन तारिबे में,
कीन्हें तन ग्यारह कहौ सो कौन गति है।
मेरे भाग गंग यहै लिखी भागीरथी, तुम्हैं
कहिए कछूक तौ कितेक मेरी मति है।
एक भवसूल आयो मेटिबे को तेरे कूल
तोहिं तौ त्रिसूल देत बार ना लगति है॥

—गंगालहरी

यहाँ वाच्य रूप में देखने पर गंगाजी की निन्दा ही सामने है, पर अभिप्राय समझने पर स्पष्ट हो जाता है कि यह उनकी प्रशंसा है; क्योंकि गंगाजी अपने दर्शन मात्र से साधारण मानव को भी शिव-रूप प्रदान कर देती हैं।

व्याजनिन्दा

जहाँ देखने में स्तुति हो किन्तु उससे निन्दा का भाव प्रकट हो, वहाँ व्याजनिन्दा होती है।

उदाहरण

तू तो रातो-दिन जग जगात रहत, वेऊ
जागत रहत रातौ-दिन बन-रत हैं।
'भूषन' भनत तू बिराजै रज भरो, वेऊ
रज-भरे देहिन दरी मैं बिचरत हैं।
तू तो सूर-गन को बिदारि बिहरत, सूर—
मंडलै बिदारि वेऊ सुर-लोक रत हैं।
काहे ते सिवा जी गाजी तेरोई सुजस होत,
तो सों अरि-बर सरबरि-सी करत हैं॥

—शिवराभूषण

यहाँ शिवाजी के शत्रुओं के कर्म्म शिवाजी के ही समान दिखाकर उनकी प्रशंसा-सी की गई दिखाई पड़ती है, किन्तु कर्म के अन्तर को समझने पर स्पष्ट हो जाता है कि यह उनकी निन्दा है, प्रशंसा नहीं।

विमर्श—व्याजस्तुति और व्याजनिन्दा, जो दो पृथक् अलंकार यहाँ दिए गए हैं, वे प्राचीन आलंकारिकों के मत से दो नहीं, अपितु 'व्याजस्तुति' के अन्तर्गत व्याज-निन्दा भी आ जाती है। प्रसिद्ध आचार्य रुय्यक ने 'व्याजस्तुति' का लक्षण इस प्रकार दिया है—

'स्तुतिनिन्दाभ्यां निन्दास्तुत्योर्गम्यत्वे व्याजस्तुतिः'

अलंकारसर्वस्व, पृ० १४२

अर्थात् जहाँ स्तुति और निन्दा में क्रमशः निन्दा और स्तुति छिपी हो वहाँ व्याजस्तुति होती है।

—:o:—

अर्थान्तरन्यास

जहाँ प्रस्तुत अर्थ का अप्रस्तुत अर्थ द्वारा समर्थन किया जाय वहाँ अर्थान्तरन्यास अलंकार होता है। अर्थात् जहाँ सामान्य बात का समर्थन विशेष बात द्वारा अथवा विशेष का समर्थन सामान्य बात द्वारा किया जाय।

उदाहरण

'रहिमन' अँसुवा नयन ढरि, जिय-दुख प्रगट करेइ।
जाहि निकारो गेह तें, कस न भेद कहि देइ॥

यहाँ, आँसू जब हृदय से निकाल दिए जाते हैं, तब वे मन का दुःख प्रकट कर देते हैं, इस बात का समर्थन यह कह कर किया गया है कि जिसे घर से निकाल दिया जायगा वह घर का भेद अवश्य ही प्रकट कर देगा।

परिसंख्या

जहाँ किसी प्रतिपादित वस्तु से उसी की समानधर्मी अन्य वस्तुओं का निषेध सूचित हो, वहाँ परिसंख्या अलङ्कार होता है।

उदाहरण

दण्ड जतिन्ह कर, भेद जहँ नर्तक नृत्य समाज।
जीतहु मनहिं सुनिअ अस, रामचन्द्र के राज॥—रा० च० मा०

यहाँ 'दण्ड' केवल यतियों के हाथ में रहने वाला ही गृहीत हुआ है। यहाँ राज-दण्ड आदि का निषेध है। इसी प्रकार आगे भी समझें। महाकवि केशवदास ने इस अलङ्कार का 'रामचन्द्रिका' में बहुलता से प्रयोग किया है।

—:o:—

उभयालङ्कार

(१) संसृष्टि

जहाँ एक से अधिक अलङ्कार एक-दूसरे से अलग अस्तित्व रखते हुए तिल-तन्दुल न्याय से मिले दिखाई पड़ें, वहाँ संसृष्टि नामक अलंकार होता है।

उदाहरण

निकी दई अनाकनी, फीकी परी गुहारि।
तज्यौ मनो तारन बिरद, बारक बारन तारि॥—बिहारी

इसमें नीकी, फीकी तथा परी, गुहारि एवं बिरद, बारक और बारन में अनुप्रास अलंकार है। इस प्रकार 'तज्यौ मनो तारन-बिरद' में उत्प्रेक्षा नामक अर्थालंकार है। दोनों अलग-अलग अपना स्पष्ट अस्तित्व रखते दिखाई पड़ते हैं। अतः यहाँ संसृष्टि हुई।

(२) संकर

जहाँ एक से अधिक अलंकार नीर-क्षीर के समान इस प्रकार घुल-मिल गए हों कि उनका अलग-अलग अस्तित्व न दिखाई पड़े, वहाँ संकर नामक उभयालंकार होता है।

उदाहरण

बचन-सुधा मुख स्रवत इत, कोकिल कण्ठ लजात।
होत विरह-विष बस अधिक, उत अलि स्यामल गात॥

इसमें 'रूपक' और 'विरोध' अङ्गी हैं। अतः यहाँ अंगांगि-भाव संकर हुआ।

अङ्क—६

पिङ्गल या छन्दःशास्त्र

छन्द—उस वाक्य-रचना को कहते हैं जो अक्षरों अथवा मात्राओं की गणना के विचार से की जाय। इसी को पद्य भी कहते हैं। 'छन्द' शब्द का वाच्यार्थ होता है 'आच्छादन', इसमें भाव या विचार सुरक्षित होते हैं।

जब लेखक अपने मनोगत भावों अथवा विचारों को गद्य द्वारा प्रकट न करके उन्हें वर्णों अथवा मात्राओं के नियमित बंधनों द्वारा उपस्थित करता है तब उसकी रचना पद्य-बद्ध कही जाती है। इस प्रकार की रचना को याद करने में विशेष सुविधा होती है। इसलिए हम देखते हैं कि विश्व की सभी भाषाओं का प्राचीनतम वाङ्मय पद्य-बद्ध ही है। पहले अपनी भावनाओं को व्यक्त करने का माध्यम मनुष्य ने इसी को बनाया। हमारे यहाँ के प्राचीनतम ग्रन्थ वेद हैं, इनमें भी छन्दों का प्रयोग हुआ है, इसीलिए वेद को भी 'छन्द' कहा है।

जैसा कि ऊपर कहा गया है, स्मरण की सुकरता को ही ध्यान में रख कर पहले की सारी रचनाएँ पद्य-बद्ध ही रही हैं, किन्तु आजकल पद्य-रचना केवल काव्य के ही बाँटे पड़ गई है, वह इसलिए कि अब मुद्रण-कला के विकास के कारण मनुष्य अपने विचारों को गद्य में प्रकट करके ग्रन्थों में छोड़ जाता है और उनके सर्वत्र सुलभ होने के कारण लोग उन्हें स्मरण रखना आवश्यक नहीं समझते। हम सूत्र-रूप में यों कह सकते

हैं कि पहले विद्या मुखस्थ रहती थी और अब वह विशेषतया पुस्तकस्थ रहने लगी है।

आज का युग विज्ञान-युग है। इस विज्ञान-युग में गद्य का ही प्राधान्य हो गया है, क्योंकि पद्य की अपेक्षा गद्य में बौद्धिक विषय विशेष सुगमता और यथोचित व्यवस्था के साथ अभिव्यक्ति पा सकते हैं। स्मृति-सौकर्य की ही दृष्टि से हमारे यहाँ गणित, आयुर्वेद-शास्त्र जैसे वैज्ञानिक विषय भी पद्य-बद्ध ही रहे। अब पद्य केवल काव्य-रचना के ही हाथों सौंप दिया गया है और आज बुद्धि भावों पर इस प्रकार विजयिनी हो गई है कि काव्य के लिए भी पद्य के उपयोग का विरोध होने लगा है, जिसके फलस्वरूप अर्द्ध-पद्य और अर्द्ध-गद्य के संयोग से रबर छन्द, केंचुवा छन्द अथवा मुक्त छन्द की सृष्टि हो रही है। अतः जो लोग पद्य-बद्ध रचना करने में असमर्थ हैं वे भी इन मुक्त छन्दों के आश्रय से कवि होने का दावा करने लगे हैं।

मेरे कहने का तात्पर्य यह नहीं कि पहले गद्य-बद्ध काव्य रचे ही नहीं गए, रचे गए अवश्य और अत्यन्त उत्कृष्ट कोटि के काव्य रचे गए, पर गद्य और पद्य के अर्द्ध-नारीश्वर स्वरूप में नहीं, यह तो आज के युग की देन है। अस्तु, अब मैं छन्दोरचना के विभिन्न प्रकारों और उनके भेदोपभेदों के स्वरूप उपस्थित करूँगा, जिनका ज्ञान प्रत्येक साहित्य-प्रेमी के लिए अनिवार्यतः आवश्यक है।

छन्दःशास्त्र की कुछ ज्ञातव्य बातें

किसी भी पद्य की रचना में मात्रा अथवा वर्णों की गणना का नियम होता है। इसके ज्ञान के लिए कुछ विशेष बातों का जानना आवश्यक है कि यह गणना किस प्रकार होती है।

मुख्य रूप में छन्द दो प्रकार के होते हैं, (१) मात्रिक और (२) वर्णिक।

मात्रिक छन्द—जिन छन्दों में मात्राओं की गणना का विचार होता है उन्हें मात्रिक छन्द कहते हैं।

वर्णिक छन्द या वृत्त—जिन छन्दों में केवल वर्णों अथवा अक्षरों की गणना का विचार होता है, उन्हें वर्णिक छन्द कहते हैं।

गुरु वर्ण—प्रत्येक गुरु वर्ण में दो मात्राएँ होती हैं। दीर्घ स्वर (जैसे—आ, ई, ऊ, ए, ऐ, ओ, औ, अं और अः) और संयुक्ताक्षर के पहले के वर्ण तथा विकल्प से पद के अन्त के वर्ण गुरु होते हैं। इसका चिह्न 'ऽ' इस प्रकार का माना जाता है।

लघु वर्ण—प्रत्येक लघु वर्ण में केवल एक ही मात्रा होती है। ह्रस्व स्वर अथवा ह्रस्व-स्वर से युक्त वर्ण लघु माना जाता है। इसका चिह्न '।' इस प्रकार की एक खड़ी रेखा मानी गई है।

गण-विचार

मात्राओं या वर्णों के निश्चित समूह का ही नाम 'गण' है। वर्णित वृत्तों के ज्ञान के लिए गणों को जानना अनिवार्य होता है। ये आठ प्रकार के होते हैं। पिंगल शास्त्र में इन गणों के स्वरूप-भेद के साथ-ही-साथ इनके भिन्न-भिन्न देवता और उनके भिन्न-भिन्न फल कहे गए हैं।

गणों के प्रकार—गण आठ प्रकार के होते हैं। निम्नलिखित सूत्र द्वारा गणों के स्वरूप और उनकी संख्या का ज्ञान अत्यन्त सरलता से हो जाता है। वह सूत्र यह है—

'यमाताराजभानसलगम् ।'

इसी सूत्र से किसी गण के लघु-गुरु का क्रम सरलता से विदित हो जायगा। एक गण तीन वर्णों का होता है। एक बार तीन वर्ण ले लेने पर प्रथम अक्षर वाला गण बन जायगा। जैसे, पहले मैंने 'यमाता' को लिया। इनसे जो गण बनेगा उसे 'यगण' कहेंगे। अब इसी प्रकार आठों गणों के स्वरूप यों हो जाते हैं—

१—यगण	यमाता	ISS
२—मगण	मातारा	SSS
३—तगण	ताराज	SSI
४—रगण	राजभा	SIS
५—जगण	जभान	ISI
६—भगण	भानस	SII
७—नगण	नसल	III
८—सगण	सलगम्	IIS

वर्णिक वृत्तों में इन्हीं गणों का उपयोग होता है। सूत्र के अन्त में आए हुए दो अक्षर 'ल' और 'गं' लघु और गुरु के द्योतक हैं।

मात्रिक छन्द की विशेषताएँ

मात्रिक छन्दों में केवल मात्राएँ गिनी जाती हैं। इनके प्रत्येक चरण के अन्त में जो तुक आते हैं, उनका मिलना अनिवार्य नहीं, तो आवश्यक अवश्य होता है। ये तुक परस्पर मिलकर एक प्रकार की संगीत-सृष्टि करते हैं और इनसे छन्द की शोभा बहुत बढ़ जाती है। वर्णिक वृत्तों में इनका मिलना प्रायः आवश्यक नहीं।

छन्दोभङ्ग

प्रत्येक छन्द में मात्रा अथवा वर्ण की संख्या निर्धारित रहती है। जब छन्द के किसी चरण में इनकी न्यूनाधिकता होती है तब वह तुरत पाठक के कानों में खटक जाती है, इसी को छन्दोभङ्ग कहते हैं। कवि को इस दोष से सावधानी के साथ बचना चाहिए। जब कवि पूर्ण रूप से रचना का अभ्यासी हो जाता है तब उसके काव्य में यह दोष आने ही नहीं पाता।

यति

प्रत्येक छन्द में अनेक स्थानों पर विश्राम अथवा विराम के नियम बने होते हैं, जहाँ पर पाठक की जिह्वा को विश्राम प्राप्त होता है। इन्हीं विश्राम-स्थलों का नाम छन्दःशास्त्र में यति होता है।

उदाहरण

पावस ऋतु थी, पर्वत प्रदेश,
पल-पल परिवर्तित प्रकृति - वेश,
मेखलाकार पर्वत अपार
अपने सहस्र-दृग-सुमन फाड़,
अवलोक रहा है बार-बार,
नीचे जल में निज महाकार।

—पल्लव

यहाँ प्रदेश, वेश, अपार, फाड़, बार-बार और महाकार शब्द जिन स्थानों पर हैं वहाँ पाठक की जिह्वा को कुछ विश्राम मिलता है। अतः ये सभी यति-स्थान कहे जाएँगे।

यतिभङ्ग

कविता में जो यति का स्थान होता है वहाँ यदि कोई शब्द अधूरा पड़े और उसका शेष भाग यति के आगे चला जाय तो उसे यतिभङ्ग दोष कहेंगे। कवि को इस दोष को ध्यान में रख कर रचना करनी चाहिए।

यतिभङ्ग दोष का उदाहरण

अकथ अपार भव-पन्थ के चले को स्रम-
हरन, करन बिजना-से बर-दाइये।
अलिकुल-कलित-कपोल, ध्यान ललित, अ-
नन्द-रूप-सरित में 'भूषन' अन्हाइये॥

—शिवराज-भूषण

उपर्युक्त छन्द में पहले सोलह अक्षरों पर विराम या यति होती है, फिर पन्द्रह पर। इसमें 'स्रम' पर यति है, किन्तु पूरा शब्द है 'स्रमहरन', जिसका 'हरन' कटकर नीचे आ गया है, इसे 'यतिभङ्ग' दोष कहते हैं। इसी प्रकार नीचे के चरण में भी 'अनन्द' के 'अ' पर यति पड़ती है और 'नन्द' कट कर नीचे चला आया है, यहाँ भी यतिभङ्ग दोष हुआ।

गति

'गति' शब्द का अर्थ है प्रवाह। प्रवाह कविता का एक विशेष अंग है, इसी के कारण उसका सारा सौन्दर्य निखरा रहता है। गतिहीन रचना कवित्वहीन हो जाती है। कवि अपनी प्रतिभा से इस प्रवाह को सतत बनाए रखने में समर्थ होता है, अकवि से इसका निर्वाह नहीं हो सकता।

उदाहरण

'नीली उस यमुना के तट पर
राजापुर का नागरिक मुखर,
क्रीडित वय, विद्याध्ययनान्तर है संस्थित।—तुलसीदास

इसमें यहाँ से वहाँ तक प्रवाह में किसी प्रकार की अटक नहीं पड़ती।

गतिभङ्ग

यदि किसी पद्य में उस छन्द के और सारे नियम पूर्णतया ठीक हों, किन्तु गति न हो तो वहाँ 'गतिभङ्ग' दोष होगा। जैसे, उपर्युक्त छन्द के,

'राजापुर का नागरिक मुखर'

को यदि यों कर दें—

'नागरिक राजापुर का मुखर'

तो प्रवाह नष्ट हो जायगा और गतिभङ्ग दोष के दर्शन होने लगेंगे। यह ऐसा दोष है जो कविता के स्वरूप को ही नष्ट कर देता है।

शुभाशुभ वर्ण और दग्धाक्षर

पिंगल के अनुसार कुछ वर्ण शुभ और कुछ अशुभ कहे गए हैं। अतः कवि को इनका भी ध्यान रखना चाहिए। इसी प्रकार कुछ वर्ण 'दग्धाक्षर' कहे गए हैं, उन्हें भूल कर भी कवि को अपने काव्य के आरम्भ में नहीं रखना चाहिए। सभी स्वर वर्ण शुभ कहे गए हैं। व्यञ्जन वर्णों में—

क, ख, ग, घ

च, छ, ज,

ड,

द, ध, न,

य, श, स, और त्त

ये पन्द्रह वर्ण शुभ कहे गए हैं, शेष उन्नीस वर्ण अशुभ।

दग्धाक्षर

उन्नीस अशुभ वर्णों में –

झ, भ, र, ष और ह बहुत ही अशुभ कहे गए हैं। इन्हें दग्धाक्षर कहते हैं।

दोष-परिहार

आचार्यों का कहना है कि नर-विषयक काव्य की रचना में इन दग्धाक्षरों से बचना चाहिए और भूल कर भी काव्य के आदि में इन्हें स्थान नहीं देना चाहिए।

१—देव-काव्य में ये वर्ण अशुभ नहीं माने गए हैं।[1]

२—देव-वाचक, शुभ-द्योतक और महापुरुषों के नाम आदि में आने पर ये दग्धाक्षर भी शुभ हो जाते हैं।

३—अशुभ वर्ण यदि गुरु कर दिया जाय तो दोष का मार्जन हो जाता है।

सूचना—शुभाशुभ वर्णों का विशेष विचार मात्रिक छन्दों में ही किया जाता है, वर्णिक में नहीं।

---

१. देवतावाचका शब्दा ये च भद्रादिवाचकाः।
तै सर्वे नैव निन्द्याः स्युर्लिपितो गणतोऽपि वा॥

उदाहरण

हिमगिरि के उत्तुङ्ग शिखर पर
बैठ शिला की शीतल छाँह।
एक पुरुष भींगे नयनों से,
देख रहा था प्रलय-प्रवाह।

यह स्वर्गीय श्री जयशंकर 'प्रसाद' के कामायनी नामक प्रसिद्ध काव्य का प्रथम छन्द है। इसमें आदि में 'ह' वर्ण का प्रयोग किया गया है, किन्तु 'हिमगिरि' देवता-वाचक शब्द है, अतः यहाँ 'ह' अशुभ नहीं माना जायगा।

—०—

गण-फलक

पहले जो आठ गण बताए गए हैं उनके देवता, फल आदि भी भिन्न-भिन्न कहे गए हैं। उन्हें स्पष्ट करने के लिए यहाँ यह फलक दे दिया जाता है।

गण	देवता	फल	शुभाशुभ
१—मगण	पृथ्वी	लक्ष्मी	शुभ
२—नगण	स्वर्ग	सुख	शुभ
३—भगण	चन्द्रमा	यश	शुभ
४—यगण	जल	आयु	शुभ
५—जगण	सूर्य	रोग	अशुभ
६—रगण	अग्नि	दाह	अशुभ
७—सगण	वायु	विदेश	अशुभ
८—तगण	आकाश	शून्य	अशुभ

इस प्रकार यह स्पष्ट हो गया कि चार गण शुभ फलदायी और चार अशुभ फलदायी हैं। काव्य के आरम्भ में अशुभ वर्णों से बचना चाहिए, यदि देवता-वाचक शब्द न हो तो।

द्विगण-विचार

यदि काव्य के आदि में अशुभ गण रखना पड़े तो उसके बाद आने वाले गण को शुभ रख देने से दोष का शमन हो जाता है। इसी को द्विगण-विचार कहते हैं।

आठों गणों में मगण और नगण मित्र हैं, मगण और यगण दास, जगण और तगण उदासीन तथा रगण और सगण शत्रु कहे जाते हैं। इस विषय में आचार्य केशवदास का यह दोहा स्मरण रखने योग्य है—

"मगन-नगन ये मित्र हैं, भगन-यगन ये दास।
उदासीन ज-त जोनिये, र-स रिपु केशवदास॥"

इस कोष्ठक से इनका फल ज्ञात हो जायगा—

द्विगण-फलक

गण	संयोग	फल
१—मित्र		
मगण और नगण	मित्र + मित्र	सिद्धि
	मित्र + दास	विजय
	मित्र + उदासीन	गोत्र-दुःख (हानि)
	मित्र + शत्रु	प्रिय-नाश

गण	संयोग	फल
२—दास	दास + मित्र	सिद्धि
भगण और यगण	दास + दास	सर्व जीववश
	दास + उदासीन	पीड़ा, धन-हानि
	दास + शत्रु	पराजय, मित्र भी शत्रु हो जाते हैं।
३—उदासीन		
जगण और तगण	उदासीन + मित्र	अल्प फल
	उदासीन + दास	प्रभुत्व-प्राप्ति
	उदासीन + उदासीन	निष्फल
	उदासीन + शत्रु	दुःख
४—शत्रु		
रगण और सगण	शत्रु + मित्र	शून्य
	शत्रु + दास	नारि-नाश
	शत्रु + उदासीन	शंका (कुल-नाश)
	शत्रु + शत्रु	पराजय

देवतावाची या मङ्गलवाची शब्दों में यह शुभाशुभ विचार नहीं होता। वे सदा शुभ ही होते हैं।

तुक-विचार

जैसा कि प्रारम्भ में कहा गया है, तुक से कविता श्रुतिमधुर एवं विशेष आकर्षक हो जाती है। इसके द्वारा कानों को एक मधुर विश्रान्ति प्राप्त होती है। मात्रिक छन्दों में तुक-बन्धन आवश्यक हो जाता है। हिन्दी के आदिम युग से कविता में तुक की ओर विशेष ध्यान दिया जाता रहा है। यह यद्यपि सच

है कि तुक काव्य का प्राण नहीं है, फिर भी तुक उसकी शोभा अवश्य है। तुकहीन रचनाएँ भी हिन्दी में हुई हैं।

वर्णिक वृत्तों में स्वयं ही एक लयगत माधुर्य रहता है, जिससे तुक की हीनता खटकती नहीं। खड़ी बोली के प्रख्यात महाकवि श्री सुमित्रानन्दन पन्त की 'ग्रन्थि' नामक रचना पूरी-की-पूरी तुक से रहित है, फिर भी काव्य-गुणों की न्यूनता उसमें नहीं है। हाँ, श्रुति-माधुर्य उसमें अवश्य उतना नहीं आ सका है, तुक-हीनता के कारण।

तुक के प्रकार

तुक गुण की दृष्टि से तीन प्रकार के कहे गये हैं; उत्तम, मध्यम और निकृष्ट।

१—उत्तम तुक

यदि छन्द के चरणान्त में दो गुरु वर्ण आएँ और वहाँ पाँच मात्राओं की समस्वरता हो तो तुक उत्तम कोटि का कहा जाता है, जैसे,

जो तप करइ कुमारि तुम्हारी।
भाविउ मेटि सकहिं त्रिपुरारी॥—रा० च० मा०

यहाँ अन्त में दो गुरु और उनके पहले का वर्ण लघु है, अतः पाँच मात्राओं के आने से तुक उत्तम कोटि का हुआ।

२—मध्यम तुक

यदि अन्त में चार मात्राएँ मिलें तो वह मध्यम तुक होता है।

मन्दिर मन्दिर प्रति करि सोधा।
देखे जहँ तहँ अगनित जोधा॥—रा० च० मा०

३—निकृष्ट तुक

चार से कम मात्राओं के आने पर निकृष्ट तुक कहा जाता है। जैसे,

सुन उर्मिला अबोध निरी।
कह कर हाय! धड़ाम गिरी॥—साकेत

यहाँ निकृष्ट कोटि का तुक आया है।

छन्द के भेद

पहले बताया जा चुका है कि मात्रा और वर्ण की गणना की दृष्टि से छन्द दो प्रकार के होते हैं, मात्रिक और वर्णिक। इन दोनों प्रकार के छन्दों में पुनः तीन भेद हो जाते हैं :—

१—सम, २—अर्द्धसम, और ३—विषम।

फिर इनके भी अनेक भेदोपभेद होते हैं। यह इस वंश-वृक्ष से स्पष्ट हो जायगा।

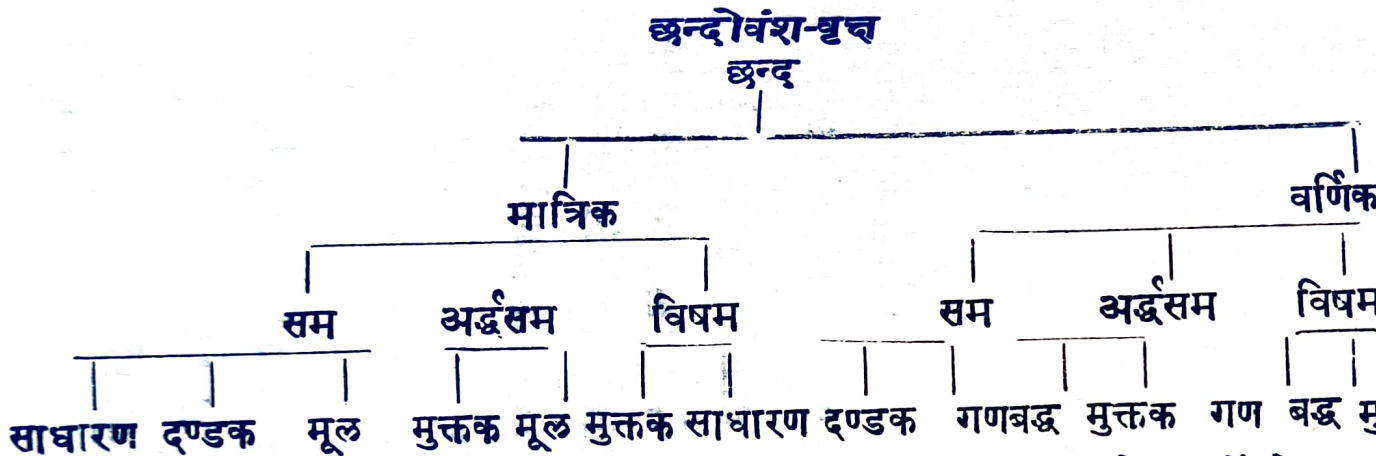

छात्रों को केवल इतने से छन्द के प्रकार का ज्ञान हो जायगा। आगे छन्दों के लक्षण और उदाहरण प्रस्तुत करते समय इन सबका निर्देश किया जायगा।

मात्रिक और वर्णिक की पहचान

किसी छन्द को पहचानने के लिए कि यह मात्रिक है अथवा वर्णिक, छन्द में आए हुए अक्षरों को गिन डालें। यदि चारों चरणों में वर्णों की समान संख्या हो तो वह वर्णिक होगा, अन्यथा मात्रिक। वर्णिक में भी वह गणबद्ध है अथवा मुक्तक, यदि यह जानना हो तो प्रत्येक चरण में आए हुए वर्णों का लघु-गुरु का क्रम मिला लेना चाहिए। यदि लघु-गुरु का क्रम मिलता है तो साधारण, अन्यथा मुक्तक होगा।

अक्षरों की गणना करते समय इस बात का ध्यान रखना चाहिए कि संयुक्ताक्षर केवल एक वर्ण गिना जाता है।

मात्रिक सम छन्द

बारह मात्राओं के छन्द

तोमर

इसके प्रत्येक चरण में बारह मात्राएँ होती हैं और अन्त में क्रम से गुरु और लघु आते हैं। इसका दूसरा नाम 'वामन' है।

उदाहरण

तब चले बान कराल। फुंकरत जनु बहु व्याल।
कोपेउ समर श्रीराम। चले बिसिख निसित निकाम॥

—रा० च० मा०

लीला

इसके प्रत्येक चरण में बारह मात्राएँ होती हैं। चरण के अन्त में जगण (।ऽ।) आना आवश्यक है।

उदाहरण

अवधपुरी भाग भारु। दसरथ गृह छबि अगारु।
राजत तहँ बिस्वरूप। लीला-तनु धरि अनूप॥

—:※:—

पन्द्रह मात्राओं के छन्द

हंसी या चौबोला

इसके प्रत्येक चरण में पन्द्रह मात्राएँ होती हैं। अन्त में लघु और गुरु का क्रम होना चाहिए।

उदाहरण

मसक समान रूप कपि धरी। लंका चलेउ सुमिरि नरहरी।
नाम लंकिनी एक निसिचरी। सो कह, चलेसि मोहि निन्दरी॥

रा० च० मा०

चौपई

इसका दूसरा नाम 'जयकरी' है।

इसके प्रत्येक चरण में पन्द्रह मात्राएँ होती हैं। चरण के अन्त में गुरु-लघु का क्रम होता है।

उदाहरण

चहहु जो साँचो निज कल्यान। तौ सब मिलि भारत-संतान।
जपौ निरन्तर एक जबान। हिन्दी, हिन्दू, हिन्दुस्तान॥

—:*:—

सोलह मात्राओं के छन्द

अरिल्ल

प्रत्येक चरण में चौकल (चार मात्राएँ) होकर सोलह मात्राएँ होती हैं। चौकल में 'जगण' नहीं आना चाहिए। अन्त में दो लघु वर्ण होने चाहिए।

उदाहरण

गुञ्जत मधुकर मुखर मनोहर। मारुत त्रिविध सदा बह सुन्दर॥

या

स्याम सरोज दाम सम सुन्दर। केहरि करि-कर सम दसकन्धर॥

—रा० च० मा०

———

चौपाई

इसके प्रत्येक चरण में सोलह मात्राएँ होती हैं। चरणान्त में जगण या तगण नहीं आना चाहिए। अर्थात् अन्त में गुरु के पश्चात् लघु का आना निषिद्ध है।

(१) उदाहरण

एक सखी सिय संग बिहाई। गई रही देखन फुलवाई।
तेइं दोउ बन्धु बिलोकेउ जाई। प्रेम-बिबस सीता पहिं आई॥

—रा० च० मा०

(२) उदाहरण

तन-चितउर, मन राजा कीन्हा। हिय सिंहल, बुधि पदुमिनि चीन्हा।
गुरू सुआ जेहि पन्थ दिखावा। बिनु गुरु जगत को निरगुन पावा॥

—पद्मावत

इक्कीस मात्राओं का छन्द

प्लवङ्गम

इसके प्रत्येक चरण में इक्कीस मात्राएँ होती हैं। इसका नियम यह है कि क्रम से एक छकल (छः मात्राएँ), एक द्विकल, दो त्रिकल, एक चौकल—इस चौकल में जगण का निषेध है और अन्त में लघु-गुरु क्रम से आते हैं।

उदाहरण

मेरा प्रिय हिंडोल निकुञ्जागार तू।
जीवन-सागर, भाव-रत्न भण्डार तू॥
मैं हूँ तेरा सुमन, चढ़ूँ, सरसूँ कहीं।
मैं हूँ तेरा जलद, बढ़ूँ, बरसूँ कहीं॥—साकेत

चौबीस मात्राओं का छन्द

रोला

इसके प्रत्येक चरण में चौबीस मात्राएँ होती हैं। ग्यारह और तेरह मात्राओं पर विराम होता है। ग्यारह मात्राओं में एक छकल, एक द्विकल और एक त्रिकल तथा तेरह मात्राओं में त्रिकल, द्विकल, छकल और द्विकल का क्रम होना चाहिए। चरणान्त में यदि दो गुरु आएँ तो उत्तम है।

उदाहरण

छन्द-बन्ध ध्रुव तोड़, फोड़कर पर्वत कारा—
अखिल रूढ़ियों की, कवि! तेरी कविता धारा
मुक्त, अबाध, अमन्द रजत-निर्झर-सी निःसृत,
गलित, ललित, आलोक-राशि, चिर अकलुष, अविजित॥

—युगवाणी

छब्बीस मात्राओं का छन्द

गीतिका

इसके प्रत्येक चरण में, चौदह और बारह मात्राओं पर विराम होकर, छब्बीस मात्राएँ होती हैं। चरण के अन्त में लघु-गुरु का क्रम होता है। यदि रगण (ऽ।ऽ) हो तो विशेष शोभन होता है। तीसरी, दसवीं, सत्रहवीं और चौबीसवीं मात्राएँ लघु रहनी चाहिए।

उदाहरण

देश का हित कर चलो सर्वस्व अपना त्याग के।
कीर्ति उज्ज्वल कर न जाओगे समर से भाग के॥

पूर्वजों के नाम पर हो क्यों कलङ्क लगा रहे।
कोटि पुत्र जिसे वही माता भला क्यों दुख सहे॥

—स्वकीय

अट्ठाईस मात्राओं का छन्द

हरिगीतिका

इसमें सोलह और बारह मात्राओं पर विराम होकर प्रत्येक चरण में अट्ठाईस मात्राएँ होती हैं, अन्त में रगण (ऽ।ऽ) का आना विशेष श्रुति-मधुर हो जाता है। पाँचवीं, बारहवीं, उन्नीसवीं और छब्बीसवीं मात्राएँ लघु होना चाहिए।

उदाहरण

अधिकार खोकर बैठ रहना यह महा दुष्कर्म है।
न्यायार्थ अपने बन्धु को भी दण्ड देना धर्म है।
इस ध्येय पर ही कौरवों औ पाण्डवों का रण हुआ।
जो भव्य भारतवर्ष के कल्पान्त का कारण हुआ॥

—जयद्रथ-वध

तीस मात्राओं का छन्द

चौपैया

इसके प्रत्येक चरण में दस, आठ और बारह मात्राओं पर विराम होकर तीस मात्राएँ होती हैं। अन्त में एक सगण और एक गुरु होना चाहिए।

उदाहरण

भए प्रकट कृपाला, दीनदयाला, कौसल्या-हितकारी।
हरषित महतारी, मुनि-मनहारी, अद्भुत रूप निहारी।
लोचन अभिरामा, तन घनश्यामा, निज आयुध भुजचारी।
भूषन बनमाला, नयन बिसाला, सोभासिन्धु खरारी॥

—रा० च० मा०

इकतीस मात्राओं का छन्द

वीर या आल्हा छन्द

इसके प्रत्येक चरण में इकतीस मात्राएँ होती हैं। सोलह और पन्द्रह मात्राओं पर विराम होता है। चरण के अन्त में गुरु-लघु का क्रम रहता है।

(१) उदाहरण

बारह बरिस लै कूकर जीयें, औ तेरह लै जीयें सियार।
बरिस अठारह छत्री जीयें, आगे जीवन को धिक्कार॥

—आल्ह खण्ड

(२) उदाहरण

जान हथेली पर रख मैंने, खेला अङ्गारों से खेल।
चुने हुए अपने वीरों सँग कूद पड़ा ज्वालाएँ झेल॥
गढ़ की वह नकेल चट मेरे, हाथों आई अपने आप।
और दुर्ग चरणों के नीचे आ पहुँचा क्षण में चुपचाप॥

—छत्रसाल

सूचना—पहले इस छन्द का प्रयोग केवल वीर रस के ही लिए होता था, किन्तु अब अन्य रसों के लिए भी इसका प्रयोग होने लगा है।

उदाहरण

हिमगिरि के उत्तुङ्ग शिखर पर
बैठ शिला की शीतल छाँह,
एक पुरुष भींगे नयनों से
देख रहा था प्रलय-प्रवाह।

—कामायनी

बत्तीस मात्राओं का छन्द

मराल

इसके प्रत्येक चरण में बत्तीस मात्राएँ होती हैं। अन्त में क्रम से गुरु-लघु होते हैं।

उदाहरण

हिमालय के आँगन में उसे प्रथम किरणों का दे उपहार।
उषा ने हँस अभिनन्दन किया और पहनाया हीरक-हार।
जगे हम, लगे जगाने विश्व, लोक में फैला फिर आलोक।
व्योम-तमपुञ्ज हुआ तब नाश, अखिल संसृति हो उठी अशोक॥

—स्कन्दगुप्त

रूप सवैया

इसके प्रत्येक चरण में बत्तीस मात्राएँ होती हैं, अर्थात् इसका प्रत्येक चरण चौपाई का द्विगुण होता है।

उदाहरण

आया है यह समय मनोहर, चलो हर्ष से खेल खेल लें।
छोड़ परस्पर की ईर्ष्या को, कर हम फिर से मित्र! मेल लें।
खिलें कुसुम उल्लास, हर्ष के, हम सब अपना रङ्ग जमा दें।
प्रेम अमृत के फल लाता है, यह दुनियाँ को हम दिखला दें॥

—स्वीय

मत्त सवैया

इसके प्रत्येक चरण में बत्तीस मात्राएँ होती हैं। इसमें आदि से अन्त तक प्रायः द्विकल ही रहते हैं।

यथा

विचलित हो अमल न मौन रहे निष्ठुर शृंगार उतरता हो।
क्रन्दन, कम्पन, न पुकार बने निज साहस पर निर्भरता हो।
अपनी ज्वाला को आप पिये, नव नीलकण्ठ का छाप लिये।
विश्राम, शान्ति को आप दिये ऊपर, ऊँचे सब झेल चलें॥

मात्रिक अर्द्धसम छन्द

ज्ञातव्य—वे छन्द जो केवल दो पंक्तियों में ही समाप्त हो जाते हैं, इनकी प्रत्येक पंक्ति को दल कहते हैं। इनमें प्रायः सबके प्रथम और तृतीय चरण विषम तथा द्वितीय और चतुर्थ चरण सम होते हैं। किसी-किसी में पहले और तीसरे सम तथा दूसरे और चौथे चरण विषम होते हैं।

बरवै

इसके प्रथम तथा तृतीय चरणों में से प्रत्येक में बारह-बारह और द्वितीय तथा चतुर्थ में प्रत्येक में सात-सात मात्राएँ होती हैं। सम चरणों के अन्त में गुरु-लघु क्रम से रहते हैं।

उदाहरण

लै के सुघर खुरुपिया, पिउ के साथ।
छइबै एक मड़ैया, बरसत पाथ॥

—बरवै नायिका-भेद

(२)

चम्पक हरवा अँग मिलि, अधिक सुहाइ।
जानि परै सिय हियरे, जब कुम्हिलाइ॥

—बरवै रामायण

सूचना—यह छन्द शृङ्गार रस के ही लिए उपयुक्त और प्रभावशाली जान पड़ता है। अवधी भाषा में ही इसका सौन्दर्य निखरता है।

दोहा

इसके प्रत्येक विषम चरण में तेरह-तेरह और सम चरण में ग्यारह-ग्यारह मात्राएँ होती हैं। विषम चरणों के आदि में जगण नहीं आना चाहिए। सम चरणों के अन्त में लघु होना चाहिए।

उदाहरण

एक छत्र, एक मुकुट-मनि, सब बरनन पर जोउ।
'तुलसी' रघुबर नाम के, बरन बिराजत दोउ॥

—रा० च० मा०

(२)

'रहिमन' चुप ह्वै बैठिए, देखि दिनन को फेर।
जब नीके दिन आइहैं, बनत न लगिहैं बेर॥

(३)

दोषहि को उमहैं गहैं, गुन न गहैं खल-लोक।
पियै रुधिर, पय ना पिये, लगी पयोधर जोंक॥

सोरठा

इसके प्रथम तथा तृतीय चरणों में ग्यारह-ग्यारह और द्वितीय तथा चतुर्थ चरणों में तेरह-तेरह मात्राएँ होती हैं। यह विषमान्त्य छन्द है। अर्थात् इसके प्रथम और तृतीय चरण के तुक मिलते हैं।

उदाहरण

बन्दउ पवन-कुमार, खल-बन-पावक ज्ञान-घन।
जासु हृदय-आगार, बसहिं राम सर-चाप-धर॥

—रा० च० मा०

(२)

'रहिमन' मोहि न सुहाय, अमी पियावत मान बिनु।
बरु बिष देय बुलाय, मान सहित मरिबो भलो॥

उल्लाला छन्द

इसके प्रथम तथा तृतीय चरणों में पन्द्रह-पन्द्रह और द्वितीय तथा चतुर्थ चरणों में तेरह-तेरह मात्राएँ होती हैं।

उदाहरण

लगूर लपेटत पटकि भट, जयति राम जय उच्चरत।
तुलसीस पवन-नन्दन अटल, जुद्ध क्रुद्ध कौतुक करत॥

—कवितावली

—०—

मात्रिक विषम छन्द

कुण्डलिया

इसके आदि में एक दोहा और उसके बाद एक रोला रहता है। इस प्रकार इसके प्रत्येक चरण में चौबीस मात्राएँ होती हैं। इसके छह चरण होते हैं। दोहा के चतुर्थ चरण के शब्द रोला के

प्रथम चरण के पूर्वार्द्ध में और दोहा के प्रथम चरण के आदि के एक या दो शब्द रोला के अन्त में आते हैं। इसी कुण्डलित शरीर-रचना के कारण इसका नाम कुण्डलिया है।

उदाहरण

साईं ये न बिरुद्धिये, गुरु, पण्डित, कबि, यार।
बेटा, बनिता, पौरिया, जज्ञ करावन हार।
जज्ञ करावन हार, राजमन्त्री जो होई।
विप्र, परोसी, बैद, आपको तपै रसोई।
कह 'गिरिधर' कबिराय, जुगन तें यह चलि आई।
इन तेरह सों तरह दिये बनि आवै साईं॥

छप्पय

इसमें पहले एक रोला और फिर एक उल्लाला मिला रहता है। इस प्रकार यह छह चरणों का छन्द हो जाता है। उल्लाला चाहें तो छब्बीस मात्राओं वाला अथवा अट्ठाईस मात्राओं वाला रख सकते हैं।

उदाहरण

अरिहु दन्त तृन धरै, ताहि नहिं मारि सकत कोइ।
हम संतत तृन चरहिं, बचन उच्चरहिं दीन होइ।
अम्मृत-पय नित स्रवहिं, बच्छ यहि थंभन जावहिं।
हिंदुहिं मधुर न देहिं, कटुक तुरकहिं न पियावहिं॥

(२)

कह कवि 'नरहरि' अकबर सुनो, बिनवति गउ जोरे करन।
अपराध कौन मोहिं मारियत, मुएहु चाम सेवइ चरन॥

आधुनिक गीत

उदाहरण

(१)

बना मधुर मेरा जीवन !
बंशी से ही कर दे मेरे सरल प्राण औ सरल वचन।
जितना-जितना मुझको छेड़ें बोलूँ और मधुर मोहन।
जो अकर्ण अहि को भी सहसा कर दे मंत्र-मुग्ध नतफन !

—पल्लव

(२)

दिया क्यों जीवन का वरदान।
इसमें है स्मृतियों की कम्पन;
सुप्त व्यथाओं का उन्मीलन,
स्वप्न-लोक की परियाँ इसमें भूल गईं मुस्कान ॥
सिकता में अङ्कित रेखा-सा,
वात-विकम्पित दीप-शिखा-सा,
काल-कपोलों पर आँसू-सा ढुल जाता हो म्लान ॥
तड़ित-रेख-सा घन-अंचल में
तुहिन - बिन्दु - सा किसलय-दल में,
करता है पल-पल में देखो मिटने का अभिमान ॥

—महादेवी वर्मा

मुक्त छन्द (Blank Verse)

आजकल मुक्त छन्दों की रचना का हिन्दी में प्राचुर्य हो गया है। इस प्रकार की रचनाओं में छन्द का कोई नियम नहीं होता, ये नियमों से मुक्त होते हैं। मात्राओं की गणना का कोई

विचार नहीं होता। एक पंक्ति किसी एक छन्द से मेल खाती है तो दूसरी किसी दूसरे से और तीसरी किसी तीसरे छन्द से। एक पंक्ति में केवल दो ही शब्द हैं तो दूसरे में दस शब्द। कहने का तात्पर्य यह कि इस प्रकार की रचनाएँ छन्द के नियमगत बन्धन से मुक्त होती हैं। इसलिए इनमें श्रुति-माधुर्य नहीं होता, राग नहीं होता, संगीतात्मकता नहीं होती। संगीतात्मकता यदि कहीं इसमें है तो वह इसकी सतत गति में। प्रवाह इसमें अनवरुद्ध होना चाहिए। प्रवाहहीनता से ऐसी रचनाएँ निष्प्राण-सी हो जाती हैं।

एक छोटा-सा उदाहरण लीजिए—

उदाहरण

'दिवसावसान का समय
मेघमय आसमान से उतर रही है
वह सन्ध्या-सुन्दरी परी-सी
धीरे-धीरे-धीरे।'

—परिमल

—:*:—

वर्णिक वृत्त

शालिनी

इसके प्रत्येक चरण में एक मगण, दो तगड़ और दो गुरु होते हैं। यह वृत्त ११ अक्षरों का होता है।

उदाहरण

धामै धामै रत्न-वेदी सुहावैं।
वेदी-वेदी भक्त-संवाद भावैं॥
वादै ही सों बोध चित्तै प्रकासै।
बोधै पाये, शंभु की मूर्ति भासै॥—रामचन्द्रिका

भुजंगी

प्रत्येक चरण में तीन यगण (।ऽऽ) और एक लघु, फिर एक गुरु होता है। इसके प्रत्येक चरण में ११ अक्षर होते हैं।

उदाहरण

बड़ाई न बाँटी बड़ों के लिए,
कड़ी तान ली तुक्कड़ों के लिए।
समालोचको, नम्रता धारिये,
महावीरता यों न विस्तारिये !!

—नाथूराम शंकर शर्मा

इन्द्रवज्रा

दो तगण, एक जगण और दो गुरु इसके प्रत्येक चरण में होते हैं। यह ग्यारह अक्षरों का होता है।

उदाहरण

तेजस्वियो ! तेज जरा दिखा दो।
सच्छास्त्र विद्या सब को सिखा दो ॥
जो सो रहे हैं उनको जगा दो।
आलस्य सारा उनका भगा दो ॥

—श्री गिरधर शर्मा

उपेन्द्रवज्रा

यह एक जगण, एक तगण, एक जगण और दो गुरु मिलकर होता है। इसके प्रत्येक चरण में ११ वर्ण होते हैं।

उदाहरण

बड़ा कि छोटा कुछ काम कीजै,
परन्तु पूर्वापर सोच लीजै।
बिना बिचारे यदि काम होगा,
कभी न अच्छा परिणाम होगा॥

तोटक

प्रत्येक चरण में चार सगण (॥ऽ) होते हैं। यह १२ अक्षरों का वृत्त है।

उदाहरण

जय राम सदा सुखधाम हरे!
रघुनायक सायक चाप धरे।
भव-वारन-दारन सिंह प्रभो!
गुन-सागर नागर नाथ विभो!!

—तुलसीदास

भुजङ्गप्रयात

इसके प्रत्येक चरण में चार यगण (।ऽऽ) होते हैं। यह १२ अक्षरों का वृत्त है।

उदाहरण

कहूँ किन्नरी किन्नरी लै बजावैं।
सुरी आसुरी बाँसुरी गीत गावैं।
कहूँ यक्षिणी पक्षिणी को पढ़ावैं।
नगी-कन्यका पन्नगी को नचावैं॥

—रामचन्द्रिका

इन्द्रवंशा

प्रत्येक चरण में दो तगण (ऽऽ।), एक जगण (।ऽ।) और एक रगण (ऽ।ऽ) होता है। यह १२ वर्णों का वृत्त है।

उदाहरण

यों ही बड़ा हेतु हुए बिना कहीं।
होते बड़े लोग कठोर यों नहीं।
बेहेतु भी यों रहते सुगुप्त हैं।
ज्यों अद्रि अम्भोनिधि में प्रलुप्त हैं॥

वंशस्थ

एक जगण, एक तगण, एक जगण और एक रगण प्रत्येक चरण में होते हैं। यह १२ वर्णों का वृत्त है।

उदाहरण

मुकुन्द चाहे यदुवंश के बनें।
रहें सदा या वह गोप-वंश के।
न तो सकेंगे व्रज-भूमि भूल वे।
न भूल देगी व्रज-मेदिनी उन्हें॥—प्रियप्रवास

द्रुतविलम्बित

(न-भ-भ-र)

एक नगण, दो भगण और एक रगण मिलकर होता है। इसका दूसरा नाम 'सुन्दरी' है। यह १२ वर्णों का होता है।

उदाहरण

दिवस का अवसान समीप था।
गगन था कुछ लोहित हो चला।
तरु-शिखा पर थी अब राजती।
कमलिनी-कुल-वल्लभ की प्रभा॥—प्रियप्रवास

मालती

(न-ज-ज-र)

एक नगण, दो जगण और एक रगण मिल कर मालती होती है। यह १२ वर्णों की होती है।

उदाहरण

अहह! वही यह धर्म-भूमि है।
अहह! यही वह कर्म-भूमि है।
अब हम में वह ज्ञान है कहाँ?
अब हम में वह आन है कहाँ?

वसन्ततिलका

(त-भ-ज-ज, ग-ग)

इसके प्रत्येक चरण में एक तगण, एक भगण, दो जगण और दो गुरु होते हैं। इसे 'सिंहोन्नता' भी कहते हैं। यह १४ वर्णों की होती है।

उदाहरण

कुंजें वही, थल वही, यमुना वही है।
बेलें वही, वन वही, विटपी वही हैं।

हैं पुष्प पल्लव वही, व्रज भी वही है।
यों किन्तु श्याम बिन हैं न वही जनाते ॥—प्रियप्रवास

मालिनी

(न-न-म-य-य)

दो नगण, एक मगण और दो यगण मिलकर मालिनी वृत्त बनता है। प्रत्येक चरण में १५ वर्ण होते हैं।

उदाहरण

विलसित उर में है जो सदा देवता लौं।
वह निज उर में है ठौर भी क्यों न देता?
नित वह कलपाता है मुझे कान्त हो क्यों?
जिस बिन कल पाते हैं नहीं प्राण मेरे।—प्रियप्रवास

मन्दाक्रान्ता

(म-भ-न-त-त, ग-ग)

इसके प्रत्येक चरण में मगण, भगण, नगण, दो तगण और दो गुरु होते हैं। यह १७ वर्णों की होती है।

उदाहरण

ये आखें हैं जिधर फिरती चाहती श्याम को हैं।
कानों को भी मुरलि-रव की आज तो लौ लगी है॥
कोई मेरे हृदय-तल को पैठ के जो विलोके।
तो पावेगा लसित उसमें कान्ति प्यारी उन्हीं की॥